जीवन-दर्शन

भाग–1

(मानव-जीवन की समस्याओं पर एक सन्त
के मौलिक सूक्ष्म एवं अनुभव-सिद्ध विचार)

मानव सेवा संघ, वृन्दावन

जीवन-दर्शन

भाग 1

मानव सेवा संघ
के प्रवर्तक सन्त प्रवर
ब्रह्मलीन पूज्यपाद स्वामी
श्री शरणानन्द जी महाराज
की अमृत वाणी

मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन (मथुरा)

• प्रकाशक :
मानव सेवा संघ
वृन्दावन, मथुरा, (उ०प्र०)

© सर्वाधिकारी प्रकाशक

• पंचम संस्करण : 2009

• 3000 प्रतियाँ

• मूल्य : 25.00 रुपये

• मुद्रक :
पावन प्रिन्टर्स,
मेरठ

प्रार्थना (1)

मेरे नाथ,

आप अपनी सुधामयी, सर्वसमर्थ, पतित पावनी, अहैतुकी कृपा से दुःखी प्राणियों के हृदय में त्याग का बल एवं सुखी प्राणियों के हृदय में सेवा का बल प्रदान करें, जिससे वे सुख-दुःख के बन्धन से मुक्त हो, आपके पवित्र प्रेम का आस्वादन कर कृतकृत्य हो जाएँ।

प्रार्थना (2)

मेरे नाथ,

आप अपनी सुधामयी, सर्वसमर्थ, पतित पावनी, अहैतुकी कृपा से मानव मात्र को विवेक का आदर तथा बल का सदुपयोग करने की सामर्थ्य प्रदान करें एवं हे करुणासागर ! अपनी अपार करुणा से शीघ्र ही राग-द्वेष का नाश करें। सभी का जीवन सेवा-त्याग-प्रेम से परिपूर्ण हो जाए।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !

मानवता के मूल सिद्धान्त

1. आत्म-निरीक्षण अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।
2. की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेकर सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना करना।
3. विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर।
4. जितेन्द्रियता, सेवा, भगवच्चिन्तन और सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण।
5. दूसरों के कर्त्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल न मानना।
6. पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव अर्थात् कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता।
7. निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति, क्रियात्मक रूप से सेवा करना।
8. शारीरिक हित की दृष्टि से आहार-विहार में संयम तथा दैनिक कार्यों में स्वावलम्बन।
9. शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी तथा अहं को अभिमान-शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।
10. सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना।
11. व्यर्थ-चिन्तन-त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना।

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक जीवन की मूल समस्याओं पर गहराई से विचार करने वाले उन्हीं संत के प्रवचनों का संग्रह है, जिनके अनेक प्रसाद मानव-सेवा-संघ के साहित्य द्वारा जनता की सेवा में उपस्थित किए जा चुके हैं और जिन्हें धर्मतत्त्व एवं मानव-जीवन पर व्यावहारिक दृष्टि से विचार करने वाले विद्वानों तथा विचारशीलों ने हृदय से लगाया है। 'सन्त-समागम', 'मानव की माँग', अनेक लेखों और प्रवचनों से परिचित बन्धु उपर्युक्त सन्त की भाषा को देखते ही पहचान जाते हैं।

प्रस्तुत संग्रह सन् 1955 में दिये हुए प्रवचनों का संग्रह है। इन प्रवचनों का संग्रह करने वाली प्रोफेसर देवकीजी ने ही इस संग्रह का सम्पादन कर भूमिका लिखी है। सुश्री देवकीदेवी केवल कॉलेज की मनोविज्ञान की व्याख्याता ही नहीं, अपितु दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों की विचारिका भी हैं और साधनमय जीवन व्यतीत करने के कारण जो विचार इस संग्रह में व्यक्त किए गए हैं, उनका उन्होंने मनन एवं तत्त्व-चिन्तन भी किया है।

इस संग्रह में प्रत्येक प्रवचन का जो शीर्षक दिया गया है, वह उसके किसी न किसी अंश का संकेतमात्र है। ये प्रवचन किसी एक विषय को लेकर नहीं दिए गए हैं, प्रत्युत् जीवन की समस्याओं पर पूज्य सन्त ने स्वतन्त्र रूप से अपने विचार प्रकट किए हैं। प्रत्येक प्रवचन अपने स्थान पर पूर्ण है, अतः कहीं से भी पढ़कर विचारशील पाठक इस पुस्तक का लाभ उठा सकते हैं।

आशा है कि मानव-जीवन को सार्थक करने के लिए धर्मप्राण और विचारशील पाठक इस संग्रह से लाभान्वित होंगे।

मदनमोहन वर्मा

(मेम्बर, राजस्थान पब्लिक सर्विस कमीशन)

अनुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ-संख्या
1. अचाह पद	17
2. विवेक एवं अविवेकयुक्त विश्वास	19
3. भोग-इच्छाओं की निवृत्ति	20
4. व्यक्तित्व की दासता	24
5. परिस्थितियों का सदुपयोग	27
6. व्यक्तित्व के मोह की निवृत्ति	32
7. हमारी वास्तविक आवश्यकता	35
8. मान्यता, विधान और जीवन की एकता	41
9. आशा और निराशा किसकी ?	45
10. 'करने' का 'होने' में परिवर्तन	48
11. गुणों के अभिमान का त्याग	50
12. अनित्य जीवन से निराशा	55
13. कामना-निवृत्ति	57
14. नित्य-जीवन का अनित्य-जीवन पर प्रभाव	60
15. माने हुए सम्बन्ध की निवृत्ति और नित्य सम्बन्ध की प्राप्ति	63
16. सहज निवृत्ति का सदुपयोग	66
17. वर्तमान का सदुपयोग	68
18. आसक्ति और प्रीति	72

19. व्याकुलता और प्रेम 76
20. विवेक और प्रीति 78
21. साधन-निर्माण 81
22. प्रीति ही जीवन है 85
23. कर्त्तव्यपरायणता से लक्ष्य की प्राप्ति 88
24. निर्मोहता में दिव्य-जीवन 92
25. परिस्थितियों से अतीत के जीवन की ओर 96
26. निर्भयता की कुंजी 100
27. आसक्ति और प्रीति का विवेचन 104
28. सुख की आशा के त्याग में ही विकास 108
29. पर-चर्चा से हानि 110
30. सफलता की कुंजी 114
31. विश्राम की महिमा 120
32. विश्राम की विधि 124
33. साधन-निर्माण की भूमि 127
34. अहं और मम के नाश में जीवन की सार्थकता 131
35. साधन में शिथिलता क्यों आती है ? 134
36. भिन्नता के अन्त में जीवन 137
37. 'मैं' क्या है ? 141

कर्म-विज्ञान

(1) निज-विवेक का प्रकाश मानव का अपना विधान है। उस विधान के अधीन बुद्धि, मन, इन्द्रिय, शरीर आदि को कर्म में लगाना है, अथवा यों कहो कि कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति को शरीर, इन्द्रिय, मन आदि का उपयोग वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म में विवेक के प्रकाश में ही करना है। निज-विवेक का प्रकाश अविवेक का नाशक है। अविवेक के नष्ट होते ही अकर्त्तव्य शेष नहीं रहता, जिसके न रहने पर कर्त्तव्य-पालन में स्वाभाविकता आ जाती है। इस दृष्टि से विवेकयुक्त मानव ही कर्त्तव्यनिष्ठ हो सकते हैं। अतः विवेक-विरोधी कर्म का मानव-जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

(2) प्रत्येक कर्म कर्त्ता का ही चित्र है। अतः कर्त्ता की सुन्दरता तथा असुन्दरता का परिचय उसके किये हुए कर्म से ही व्यक्त होता है। सुन्दर कर्त्ता के बिना सुन्दर कार्य सम्भव नहीं है। कर्त्ता वही सुन्दर हो सकता है जिसका कर्म 'पर' के लिए हितकर सिद्ध हो तथा किसी के लिए अहितकर न हो। अतः कार्यारम्भ से पूर्व यह विकल्प-रहित निर्णय कर लेना चाहिए कि उस कार्य का मानव-जीवन में स्थान ही नहीं है, जो किसी के लिए भी अहितकर है। अहितकर कार्य का अर्थ है कि जो किसी के विकास में बाधक हो।

(3) कोई भी कर्म कर्म-विज्ञान के विरुद्ध करने से सांगोपांग सिद्ध न होगा। अतः प्रत्येक कर्म उस कर्म की विधि से ही करना चाहिए, जो विज्ञान-सिद्ध है। कर्म-विज्ञान के विरुद्ध किया हुआ कर्म फलदायक नहीं होता। कर्म के बाह्य रूप में कर्म सम्बन्धी ज्ञान की अपेक्षा है। अतः प्रत्येक कर्त्ता को कार्यारम्भ से पूर्व उस कार्य-सम्बन्धी ज्ञान का सम्पादन अनिवार्य है।

—सन्त वाणी

आमुख

मैंने सुना था, मानव-जीवन जैसा प्रतीत होता है, वैसा नहीं है। जो प्रतीत होता है, वह वास्तविकता नहीं है; अर्थात् यह एक भ्रम (Illusion) है। मनोवैज्ञानिक भाषा में संवेदना का गलत अर्थ लगाना भ्रम कहलाता है। मानव को सबसे बड़ा भ्रम (Illusion) अपने जीवन के ही सम्बन्ध में है। वह स्वयं है तो कुछ और समझता है कुछ और; पर वास्तविकता क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में युग-युग के विचारकों द्वारा भिन्न-भिन्न मत प्रकट किए गए हैं।

उत्पत्ति-विनाश की सीमाओं में आबद्ध मानव-जीवन के चल-जल-प्रवाह पर ही जिनकी दृष्टि रही, उन्होंने Eat, drink and be merry का सिद्धान्त बनाया। हम आए हैं, चले जाएँगे, इसलिए खाओ, पिओ और मौज करो।

समष्टि शक्तियों द्वारा संचालित निरन्तर परिवर्तनशील मिट्टी के पुतलों में भी जिन्हें सनातनता का दर्शन हुआ, उन्होंने उस चिरन्तन तत्त्व की खोज और प्राप्ति के साधन सम्बन्धी बड़े-बड़े दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना की और मानव-जीवन की वास्तविकता को दर्शाया।

आधुनिक वैज्ञानिक युग के क्रान्तिकारी विचारकों ने भी मानव-जीवन को अपने ढंग से समझने की और उसे सफल बनाने की चेष्टा की है। उनमें एक हैं, कार्ल मार्क्स। इन्होंने मानव-जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण को एक नई दिशा में मोड़ा है। नियतिवाद के विधानानुसार किसी को तो वैभव की गोद में रंगरेलियाँ मनाने का और किसी को दरिद्रता के शिकंजों में फँसकर तरस-तरस कर रह जाने का औचित्य कार्ल मार्क्स की दृष्टि में नहीं है। मार्क्सवाद के अनुसार व्यक्तिगत योग्यतानुरूप कार्य करना हर व्यक्ति का कर्त्तव्य और आवश्यकतानुसार वस्तु पाना प्रत्येक का अधिकार है। इसके फलस्वरूप वर्तमान युग में श्रम का महत्त्व बढ़ा है;

कुल, वंश और वर्ग का आश्रय निर्बल पड़ गया है और मानव-मात्र को समान स्तर पर लाने की चेष्टा की गई है।

इस सिद्धान्त के द्वारा मानव-जीवन के भौतिक पहलू की कुछ गुत्थियाँ सुलझती हुई-सी प्रतीत होती हैं, पर उसकी मौलिक समस्या अब भी उसके प्रगति-पथ पर प्रश्नवाचक चिह्न के रूप में खड़ी है।

मानव-जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण में हलचल मचाने वाले दूसरे विचारक हैं, एस० फ्रायड (S. Freud)। इन्होंने हमारे व्यक्त (Conscious) व्यवहारों पर पड़ने वाले अव्यक्त (Unconscious) मन के प्रभावों के विषय में खोज की है। कहते हैं, फ्रायड महोदय ने हमारे जीवन के एक नये रहस्य का उद्घाटन किया है, अर्थात् जीवन सम्बन्धी ज्ञान में एक नया अध्याय जोड़ा है।

मानसिक जीवन के कलेवर (Structure of mental life) की व्याख्या करते हुए इन्होंने यह बताने की चेष्टा की है कि व्यक्त (Conscious) अनुभूतियों के आधार पर व्यक्ति अपने को जैसा समझता है, वस्तुत: वह वैसा है नहीं। उसका असली चित्र तो अव्यक्त (Unconscious) में है।

फ्रायड के अनुसार अव्यक्त मन में दबी हुई अभुक्त कामनाओं के वेग से व्यक्त (Conscious) व्यावहारिक जीवन में विकृति आ जाती है। जिस व्यक्ति के जीवन में जितना ही अधिक दमन (Repression) होता है, उसकी मानसिक शक्ति का उतना ही अधिक ह्रास होता है। फलस्वरूप वह व्यक्ति यथार्थ जीवन की कठिनाइयों का सामना करने में असमर्थ हो जाता है और दु:खमय जीवन यापन करता है। सारांश यह कि व्यक्तित्व के सन्तुलित विकास के लिए इच्छाओं की सम्यक् पूर्ति आवश्यक है; परन्तु इसमें व्यक्ति कभी स्वाधीन नहीं है, क्योंकि भौतिक, शारीरिक, नैतिक और धार्मिक प्रतिबन्धों के कारण व्यक्ति की कामनाओं की पूर्ति में बाधा पड़ती ही रहती है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से मन का सन्तुलित होना ही सफल जीवन है। पर मन के सन्तुलित होने में, अर्थात् प्रत्येक परिस्थिति में अपने को सहर्ष अभियोजित कर लेने की योग्यता प्राप्त करने में फ्रायडियन सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति निरीह, पराश्रित और विवश दिखता है। माता-पिता और वातावरण की उपयुक्तता तथा अनुपयुक्तता पर ही हमारे व्यक्तित्व का सन्तुलित अथवा विकृत होना निर्भर है; क्योंकि पाँच वर्ष की आयु के भीतर ही मानसिक स्वास्थ्य का गठन हो चुकता है। इस गठन में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता बिल्कुल नहीं है।

फ्रायड द्वारा प्रस्तुत अपना यह चित्र मनुष्य को संतोषदायक नहीं प्रतीत होता है। व्यक्तित्व के निर्माण में तथा जीवन की सफलता में व्यक्तिगत पराधीनता और विवशता बहुत अखरती है। अव्यक्त (Unconscious) मन की क्रियाओं का चमत्कार हमारे लिए आकर्षक तो है, पर इसके द्वारा जीवन की अनबूझ पहेली और अधिक रहस्यपूर्ण बन जाती है। मौलिक प्रश्न ज्यों का त्यों खड़ा रह जाता है—जीवन क्या है? आज का विचारक वर्ग मानवता की नई राह खोज रहा है।

प्रस्तुत पुस्तक 'जीवन-दर्शन' हमारी इसी आवश्यकता की पूर्ति है। यह 'जीवन-दर्शन', यह सार्वभौम सत्य (Universal truth) एक ऐसे सिद्ध पुरुष की वाणी द्वारा प्रकट हुआ है, जिन्होंने अपने ही जीवन की घटनाओं के अध्ययन और मनन से जीवन की वास्तविकता को जाना है और अपनी अनुभूतियों के आधार पर प्रतिपादित सिद्धान्तों को लोक-कल्याणार्थ दर्शनरूप में प्रस्तुत किया है।

उक्त सन्त के सिद्धान्तानुसार ही उनका नाम नहीं दिया जा रहा है; क्योंकि उनका यह विचार है कि नाम के आधार पर जो बात चलती है, वह कालान्तर में खत्म हो जाती है और नाम के साथ राग-द्वेष का होना स्वाभाविक है। इसलिए सार्वभौम सत्य के प्रकाशन के साथ नाम न दिया जाए तो अच्छा है। इसके अतिरिक्त विचार तो अनन्त की विभूति है, किसी

व्यक्ति की निजी विशेषता नहीं। अत: विचारों का प्रकाशन तो अनन्त की अहैतुकी कृपा से होता है। उसके साथ किसी व्यक्ति विशेष का नाम जोड़ देना प्रमाद है।

उक्त सन्त के द्वारा प्रस्तुत दर्शन के अनुसार मानव-जीवन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। यह जीवन भ्रम (Illusion) में पड़े रहने के लिए नहीं मिला है; जड़ता, पराधीनता, बन्धन और मृत्यु की पीड़ाओं को झेलते रहने के लिए नहीं मिला है। यह जीवन तो मानव को साधनयुक्त होकर अपना कल्याण और सुन्दर समाज के निर्माण के लिए मिला है।

मानव उस अनन्त की विभूतियों की लालसामात्र है, जिसकी सत्ता से अखिल ब्रह्माण्ड को सत्ता मिली है और जिसके प्रकाश से अखिल विश्व प्रकाशित है। इस दर्शन के अनुसार मानव में दृश्य जगत् की चाह और वास्तविकता की लालसा विद्यमान है। दृश्य जगत् की चाह के कारण वह रागयुक्त प्रवृत्तियों में रत होता है; वस्तु, व्यक्ति और परिस्थितियों की दासता में आबद्ध होकर कर्मफल के बन्धन में बँधता है और इच्छा-शक्ति के शेष रहते ही प्राणशक्ति का क्षय हो जाने के कारण बार-बार शरीर धारण करता हुआ अनेक प्रकार के कष्ट भोगता है।

वास्तविकता की लालसा के कारण वह घोर प्रवृत्तियों में रत रहता हुआ भी परिवर्तनशील, सुख-दु:खपूर्ण, सीमित जीवन से असन्तुष्ट होता है; सब प्रकार के अभावों का अभाव कर नित्य, चिन्मय, रसपूर्ण जीवन की उपलब्धि चाहता है। अत: मानव-जीवन का एकमात्र लक्ष्य है—दृश्य की चाह से निवृत्त होकर वास्तविकता को प्राप्त करना अर्थात् ज्ञान, योग और प्रेम बन जाना।

इस लक्ष्य की प्राप्ति में प्रत्येक मानव स्वाधीन है। कोई भी वस्तु, व्यक्ति और परिस्थिति मनुष्य के लिए लक्ष्य प्राप्ति में बाधक नहीं है, प्रत्युत् साधन-सामग्री है। मानव जीवन इनकी दासता में आबद्ध होने के लिए नहीं, वरन् विवेकपूर्वक इनका सदुपयोग कर विजातीय से असङ्गता और सजातीय से अभिन्नता प्राप्त करने के लिए मिला है।

वह विवेक, जो भौतिक दृष्टि से चरम विकास, आध्यात्मिक दृष्टि से अपनी ही एक विभूति और आस्तिक दृष्टि से प्रभु की कृपा-शक्ति रूप है, मानव-मात्र को प्राप्त है। उसी के प्रकाश में सभी को चलना है। यह विवेक कोई मतवाद नहीं, सम्प्रदाय नहीं; वह मानव-मात्र का पथ-प्रदर्शक है। उसके उपयोग द्वारा प्रत्येक मानव लक्ष्य-प्राप्ति में समर्थ हो सकता है। यही प्रस्तुत 'जीवन-दर्शन' की संक्षित रूप-रेखा है अथवा भ्रमित, त्रसित, पीड़ित मानव-जीवन को साधनयुक्त बनाकर साध्य से अभिन्न करा देने का महामन्त्र है।

यह दार्शनिक सिद्धान्त मानव को निराशा, पराधीनता, जड़ता और मृत्यु के भय से मुक्त करने वाला है। इसके अनुसार मानव-मात्र को वह स्वाधीनता, विवेक और सामर्थ्य स्वतः प्राप्त है, जिनके द्वारा मनुष्य साधनयुक्त होकर अमरत्व और अनन्त रस प्राप्त कर सकता है। यह आश्वासन ही व्यथित और निराश मनुष्य को नव-जीवन प्रदान करने वाला है।

इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार आध्यात्मिकता और भौतिकता के बीच गहरी खाई मानना भी व्यर्थ सिद्ध होता है। वर्तमान युग के वैज्ञानिक चमत्कारों से प्रभावित बुद्धिवादी वर्ग में यह भ्रम पैदा हो गया है कि आध्यात्मिक चर्चा भौतिक विकास में बाधक है, क्योंकि वह निष्क्रियता की पोषक है। जो लोग आध्यात्मिक विकास में लग जाते हैं, वे फिर लोक-संग्रह के काम नहीं आ सकते; परन्तु प्रस्तुत 'जीवन-दर्शन' में कर्म-विज्ञान और अध्यात्म-विज्ञान को मानवता का अभिन्न अङ्ग बताया गया है। पूर्ण मानव होने के लिए कर्म-विज्ञान द्वारा सुन्दर समाज का निर्माण तथा अध्यात्म-विज्ञान के द्वारा अपने कल्याण को अनिवार्य सिद्ध किया गया है। इसमें कहीं भी आध्यात्मिक विकास और भौतिक विकास में विरोध दिखाई नहीं देता, प्रत्युत् दोनों को एक-दूसरे का पोषक सिद्ध किया गया है। साधक को सिद्धि दिलाने के लिए दोनों ही साधनरूप हैं। कर्म-विज्ञान के अनुसार प्राप्त योग्यता, सामर्थ्य और परिस्थिति का

सदुपयोग किए बिना आध्यात्मिक जीवन में प्रगति सम्भव नहीं तथा अध्यात्म-विज्ञान के अनुरूप जीवन बनाए बिना जन-कल्याण और विश्व-शान्ति सम्भव नहीं है। इस प्रकार मानव के सर्वाङ्गपूर्ण चरम विकास का सुन्दर चित्र इस दर्शन में चित्रित है, जो अन्यत्र दुर्लभ है।

इस 'जीवन-दर्शन' में सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों की वैज्ञानिक व्याख्या की गई है। भाषा गहन है, युक्तियाँ अकाट्य हैं, पर दैनिक जीवन की घटनाओं के माध्यम से उनकी व्याख्या अति सरल रूप में की गई है। जो कुछ कहा गया है, सब निश्चयात्मक शब्दों में। इसके निर्णय स्वत: सिद्ध हैं। उनके लिए न प्रमाण की आवश्यकता है और न कहीं शंका की गुँजाइश है।

मैं तो जब-जब इस पुस्तक को पढ़ती हूँ, तब-तब ऐसा मालूम होता है कि वर्तमान बुद्धिवादी युग के कल्याणार्थ ही इस दर्शन का प्रादुर्भाव हुआ है। इसमें कोई ऐसी बात नहीं कही गई है, जो अब तक के विचारकों को किसी-न-किसी रूप में ज्ञात नहीं थी। पर इसके प्रतिपादनकर्ता ने युग की चिन्तनधारा में अपनी चिन्तन-धारा मिलाकर विचार किया है।

इस 'जीवन-दर्शन' की यह एक और विलक्षणता है कि मानव-जीवन के वास्तविक स्वरूप का स्पष्ट दर्शन कराने के साथ-साथ उसकी प्राप्ति के अति सुगम साधन भी बताए गए हैं, जो साधक की व्यक्तिगत भिन्नता (Individual difference) को ध्यान में रखकर निर्धारित किए गए हैं। यद्यपि स्वरूप से मानवमात्र एक है और साध्य भी सबका एक है, फिर भी योग्यता भेद से साधन में भेद होना स्वाभाविक है। इस बात पर पूरा ध्यान रखकर साधन की चर्चा की गई है। प्रत्येक समस्या को अध्यात्मवाद, भौतिकवाद और आस्तिकवाद की दृष्टि से हल किया गया है।

इस पुस्तक में केवल सिद्धान्तों का ही निरूपण नहीं हुआ, प्रत्युत् ऐसे साधन भी बताए गए हैं, जो दुर्बल से दुर्बल, असहाय से असहाय साधक को भी साध्य से मिला देने में समर्थ हैं। उन साधनों के लिए बाह्य परिस्थिति, योग्यता, वस्तु और देश-काल की अपेक्षा नहीं है। इसलिए

इस क्षेत्र में सभी मनुष्य समान हैं। पढ़े-लिखे और बेपढ़े, धनी-निर्धन, सबल-निर्बल, सभी साधक हो सकते हैं और सभी साध्य से मिल सकते हैं। आज के साम्यवादी युग के लिए इससे बढ़कर साम्यवाद की सार्थकता और क्या हो सकती है ?

साधारण दृष्टि से मालूम होगा कि इस पुस्तक में निर्णीत सिद्धान्तों की पुनरावृत्ति अनेक बार हुई है, किन्तु रहस्य को स्पष्ट करने के लिए पुनरावृत्ति अनिवार्य है। अत: यह वास्तव में कोई दोष नहीं है; क्योंकि साधक अनेक श्रेणी के होते हैं, उनको भिन्न-भिन्न ढंग से समझाना पड़ता है, इसलिए पुनरावृत्ति आवश्यक है।

इस दर्शन का विषय सनातन है, पर अभिव्यक्ति आधुनिक है, जो वर्तमान युग की मानवता की माँग पूरी करने में समर्थ है। आशातीत सफलता का मार्ग प्रदर्शन करने वाला यह 'जीवन-दर्शन' मानवमात्र के भौतिक और मानसिक जीवन को चरम विकास तक पहुँचाकर वास्तविकता की उपलब्धि कराने वाला है।

यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों की ऐसी ठोस व्याख्या है कि इसके सम्बन्ध में कुछ भी कह सकना साधारण बुद्धि की सामर्थ्य से बाहर है। फिर भी इसे पढ़कर जो प्रकाश और उल्लास मिला है, उससे जीवन अनुप्राणित हो उठा है। इसलिए उसे प्रकट किए बिना मुझसे रहा नहीं गया। अत: मेरी तुच्छ मति से जितना ग्राह्य हो सका और उसमें भी जितना अभिव्यक्त कर सकी, वह लिख दिया है। ज्ञान-प्रेम की निर्मल गङ्गा अविरल गति से बह रही है, यह पात्र की योग्यता पर निर्भर है कि जो जितना अपने में भर सके, भर ले।

निर्माण-निकेतन — विनीता
राँची (बिहार) — देवकी
ता० 6-2-56 — एम० ए० (मनोविज्ञान)

कर्म विज्ञान

(1) कर्म-विज्ञान के अनुसार सम्पादित कार्य यदि पवित्र भाव से न किया गया, तो उसमें सरसता नहीं आयेगी। सरसता के बिना कार्य यन्त्रवत् होगा। मानव की माँग जहाँ कर्म-विज्ञान सहित कार्य करने की है, वहीं कार्य की मधुरता भी उसे अभीष्ट है। अत: मानव को प्रत्येक कार्य पवित्र भाव से भावित होकर करना अनिवार्य है।

(2) कर्म वही सार्थक सिद्ध होता है, जिससे सुन्दर समजा का निर्माण तथा करने के राग की निवृत्ति हो, अर्थात् कर्त्ता राग-रहित हो जाय और उसके द्वारा किया हुआ कर्म सुन्दर समाज के निर्माण के लिए विधान बन जाय। अत: प्रत्येक कर्म मानव को सुन्दर समाज के निर्माण तथा राग-रहित होने के उद्देश्य ही से करना अनिवार्य है।

(3) प्राप्त परिस्थिति के अनुसार कर्त्तव्य-पालन का दायित्व तब तक रहता ही है, जब तक कर्त्ता के जीवन से अशुद्ध तथा अनावश्यक संकल्प नष्ट न हो जाएँ, आवश्यक तथा शुद्ध संकल्प पूरे होकर मिट न जाएँ, सहज भाव से निर्विकल्पता न आ जाए, अपने-आप आयी हुई निर्विकल्पता से असंगता न हो जाए तथा असंगतापूर्वक प्राप्त स्वाधीनता को समर्पित कर जीवन प्रेम से परिपूर्ण न हो जाए। कर्त्तव्य-पालन से अपने को बचाना भूल है। अन्त: प्राप्त परिस्थिति के अनुरूप मानव का कर्त्तव्यनिष्ठ होना अनिवार्य है।

(4) आवश्यक तथा शुद्ध संकल्पों की पूर्ति के सुख की दासता से तथा संकल्प-निवृत्ति की शान्ति में रमण से एवं असंगता द्वारा सम्पादित स्वाधीनता से सन्तुष्ट न रहने पर, प्रेम की अभिव्यक्ति अपने-आप होती है। अत: जब तक जीवन प्रेम से परिपूर्ण न हो जाए, तब तक सावधानीपूर्वक उपर्युक्त क्रमानुसार दायित्व पूरा करना अनिवार्य है।

—सन्तवाणी

जीवन-दर्शन भाग 1

(1)

अचाह पद

सभी साधनों का पर्यवसान अचाह पद में है; कारण, कि अचाह होने पर ही अप्रयत्न और अप्रयत्न होने पर ही साध्य से अभिन्नता प्राप्त होती है, जो जीवन का मुख्य उद्देश्य है।

अब विचार यह करना है कि चाह की उत्पत्ति का हेतु क्या है? रुचि और अरुचिरूपी भूमि में चाहरूपी दूर्वा उत्पन्न होती है। यदि रुचि-अरुचि का समूह न रहे, तो चाह की उत्पत्ति के लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता; कारण, कि रुचि-अरुचि के आधार पर ही सीमित अहंभाव सुरक्षित रहता है। उसी से चाह की उत्पत्ति होती है। अतः सीमित अहंभाव के रहते हुए अचाह पद की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

सीमित अहंभाव का अन्त कैसे हो? इसके लिए रुचि-अरुचि के स्वरूप को जानना होगा। रुचि और अरुचि का सम्बन्ध 'स्व' और 'पर' से है। 'स्व' की विमुखता 'पर' की रुचि जाग्रत करती है और 'पर' की अरुचि 'स्व' की रुचि को सबल बनाती है। 'पर' की अरुचि निषेधात्मकरूप से 'स्व' में प्रतिष्ठित करती है और 'स्व' की रुचि विध्यात्मक रूप से 'पर' में अरुचि उत्पन्न करने में समर्थ है।

अरुचि का अर्थ द्वेष नहीं है और रुचि का अर्थ राग नहीं है। 'पर' की अरुचि संयोग को संयोग-काल में ही वियोग में बदलती है और 'स्व' की रुचि वर्तमान में ही नित्ययोग प्रदान करती है। अतः वियोग अथवा नित्य-योग रुचि-अरुचि के समूह को मिटाने में समर्थ है।

रुचि-अरुचि के मिटते ही अचाह पद स्वत: प्राप्त हो जाता है। हमसे बड़ी भूल यही होती है कि जो वास्तव में अपना है, उसमें अरुचि और जिससे केवल मानी हुई एकता है, उसमें रुचि उत्पन्न कर लेते हैं। फिर चाह के जाल में फँसकर जो करना चाहिए, वह नहीं कर पाते; अपितु जो नहीं करना चाहिए, उसको करने लगते हैं। उसके करने से ही हम कर्त्तव्य से च्युत हो जाते हैं।

कर्त्तव्य से च्युत होते ही राग-द्वेष उत्पन्न हो जाते हैं। राग-द्वेष उत्पन्न होने से जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है, उससे विमुखता और जिससे केवल मानी हुई एकता है, उसमें आसक्ति हो जाती है, जो चाह को सजीव बनाने में हेतु है।

अब विचार यह करना है कि हम किसे अपना कह सकते हैं? अपना उसी को कह सकते हैं, जिससे देश-काल की दूरी न हो, जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त न हो और जो अपने को अपने-आप प्रकाशित करने में समर्थ हो; क्योंकि अपने से अपना वियोग सम्भव नहीं है और जो अपना नहीं है, उससे वियोग होना अनिवार्य है।

इस दृष्टिकोण से बाह्य वस्तु की तो कौन कहे, शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन आदि को भी अपना नहीं कह सकते; पर इसका अर्थ यह नहीं है कि जिसे हम अपना नहीं कह सकते, वह हमारी सेवा का पात्र नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि उससे प्रेम नहीं किया जा सकता।

'सेवा' माने हुए सम्बन्ध को तोड़ने में और 'प्रेम' जिससे जातीय एकता है, उससे अभिन्न करने में समर्थ है। इस दृष्टि से शरीर आदि सभी की सेवा की जा सकती है; पर उनसे न तो ममता की जा सकती है और न प्रेम ही। प्रेम उसी से किया जा सकता है, जो उत्पत्ति-विनाशरहित है।

प्रेम करने के लिए हमें अपने-आपका समर्पण करना पड़ता है और सेवा करने के लिए संग्रह की हुई वस्तु एवं योग्यता आदि को देना पड़ता

है। प्रेम हमें अन्तर्मुख जीवन से अभिन्न करता है और सेवा क्रिया-शीलता प्रदान करती है।

जिस प्रकार अचल हिमालय से अनेक नदियाँ निकलती हैं और भूमि को हरा-भरा बनाने में समर्थ होती हैं, उसी प्रकार अन्तर्मुख प्रेमयुक्त जीवन से सेवारूपी अनेक नदियाँ निकलती हैं, जो विश्व को हरा-भरा बनाने में समर्थ होती हैं। अथवा यों कहें कि प्रेम से अपना कल्याण और सेवा से सुन्दर समाज का निर्माण होता है।

सेवा-भाव से उत्पन्न हुई क्रियाशीलता प्रेम को पुष्ट करती है और प्रेम सेवा को सजीव बनाता है। सेवा तथा प्रेमयुक्त जीवन से ही रुचि-अरुचि का अन्त होता है। रुचि-अरुचि का अन्त होते ही अहंभाव गल जाता है। अहंभाव के गलते ही सब प्रकार की चाह का अन्त हो जाता है। फिर लक्ष्य से अभिन्नता स्वत: प्राप्त हो जाती है, जो नि:सन्देहता और प्रेम की प्राप्ति में समर्थ है। यही जीवन का लक्ष्य है।

(2)

विवेक एवं अविवेकयुक्त विश्वास

विश्वास दो भागों में विभाजित हो सकता है—विवेकसिद्ध और अविवेकसिद्ध। अविवेकसिद्ध विश्वास साधनरूप नहीं है; पर विवेकसिद्ध विश्वास साधनरूप है। अपने को देह मान लेना अविवेकसिद्ध विश्वास है और अपने में से देहभाव का त्याग करना विवेकसिद्ध विश्वास है।

अविवेकसिद्ध विश्वास काम और मोह उत्पन्न करता है, जिससे प्रवृत्ति और आसक्ति ही सिद्ध होती है। आसक्ति से परतन्त्रता और प्रवृत्ति से शक्तिहीनता प्राप्त होती है, जो अपने को अभीष्ट नहीं है। परतन्त्रता और शक्तिहीनता की व्यथा विवेकयुक्त विश्वास को जन्म देती है।

अपने को देह स्वीकार न करना विवेकयुक्त विश्वास है। इस विश्वास में यह प्रश्न स्वत: उत्पन्न होता है कि देह और देह का अभिमानी क्या है? यह प्रश्न ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थाई होता जाता है, त्यों-त्यों सन्देह की वेदना तीव्र होती जाती है, जो भोगेच्छाओं को खाकर जिज्ञासा जाग्रत कर देती है।

भोगेच्छाओं के मिटते ही प्रवृत्ति सहज निवृत्ति में और आसक्ति अनासक्ति में परिवर्तित हो जाती है। फिर जिज्ञासा-पूर्ति का प्रश्न वर्तमान की समस्या बन जाता है।

सहज निवृत्ति भोग को योग में, आसक्ति को अनासक्ति में और राग को अनुराग में परिवर्तित करती है। ज्यों-ज्यों योग दृढ़ होता जाता है, त्यों-त्यों जिज्ञासा-पूर्ति की सामर्थ्य स्वत: आती जाती है; क्योंकि योग जड़ता से असङ्ग करने में समर्थ है।

जड़ता से असङ्ग होते ही चिन्मय जीवन में प्रवेश हो जाता है; फिर जिज्ञासा की पूर्ति स्वत: हो जाती है। जिज्ञासा की पूर्ति होते ही जीवन अनुराग से युक्त हो जाता है। इस दृष्टि से योग अविवेकसिद्ध विश्वास को खाकर जीवन की सभी समस्याओं को हल करने में समर्थ है।

(3)

भोग-इच्छाओं की निवृत्ति

वर्तमान परिवर्तनशील जीवन की अस्वाभाविक इच्छाओं का कुछ भाग अनेक बार पूरा हो चुका है, फिर भी उन इच्छाओं की पूर्ति का राग निवृत्त नहीं होता; क्योंकि उनकी पूर्ति के सुख की स्मृति विद्यमान है। इसलिए स्वाभाविक लालसा की पूर्ति नहीं होती और निर्विकल्पता नहीं आती।

इच्छाओं की निवृत्ति तथा स्वाभाविक लालसा की पूर्ति न होने का एक कारण यह भी मालूम होता है कि हम जब इच्छा की पूर्ति करने चलते हैं, तब उसका भोक्ता अपने को मान लेते हैं। भोग की इच्छा में भोक्ता निवास करता हुआ मालूम होता है, पर वास्तव में भोग की इच्छाएँ ही भोक्ता में निवास करती हैं।

जिस प्रकार सभी बीज भूमि में ही निवास करते हैं, उसी प्रकार सभी इच्छाएँ भोक्ता में निवास करती हैं। जिस प्रकार भूमि का नाश होने पर सभी बीजों का नाश हो जाता है, उसी प्रकार भोक्ता का नाश होने पर सभी इच्छाओं का नाश स्वत: हो जाता है।

भोक्ता की रुचि से ही भोगेच्छाएँ उत्पन्न होती हैं, भोक्ता के आश्रय से ही पुष्ट होती हैं और भोक्ता ही में इच्छापूर्ति का सुख अंकित होता है, जो पुन: इच्छाओं की उत्पत्ति का हेतु बन जाता है। भोगेच्छाओं का अन्त करने के लिए यह अनिवार्य है कि यह भाव अस्वीकार कर दिया जाए कि 'मैं भोक्ता हूँ'।

अब यह विचार करना है कि हम अपने को भोक्ता न मानें, तो क्या मानें? तो कहना होगा कि हम अपने को साधक मानें। यदि हम अपने को साधक स्वीकार करें, तो यह प्रश्न स्वत: ही उत्पन्न होता है कि हमारा साधन क्या है और हमारा साध्य क्या है; कारण कि साधक उसे ही कह सकते हैं, जिसका कोई साध्य हो और जिसमें कोई साधन हो।

यह नियम है कि साधक, साधन और साध्य में जातीय तथा स्वरूप की एकता और गुणों की भिन्नता होती है, इसी कारण साधक साधन होकर साध्य से अभिन्न हो सकता है। इस दृष्टि से समस्त जीवन साधन होने पर ही सिद्धि सम्भव है।

अपने को साधक स्वीकार कर लेने पर ही समस्त जीवन साधन बन सकता है; क्योंकि स्वीकृति का विकसित रूप ही जीवन है। असफलता

का कारण एकमात्र यही है कि हम साधन को जीवन का एक अङ्ग मानते हैं। इस प्रमाद के मिटते ही साधक साधन से अभिन्न होकर साध्य में विलीन हो जाता है।

यह प्राकृतिक नियम है कि जिस मान्यता से जो इच्छा उत्पन्न होती है, उसकी पूर्ति होने पर उसी मान्यता की सिद्धि होती है, जिस मान्यता से इच्छा उत्पन्न हुई थी। साधन रूप मान्यता के बिना कभी भी अहंता साध्य में विलीन नहीं हो सकती। इस दृष्टि से साधन रूप मान्यता से भिन्न जो मान्यताएँ हैं, वे सब त्याज्य हैं।

भोगेच्छाओं की निवृत्ति न होने का एकमात्र कारण यही है कि हम अपने को भोक्ता मानते हैं, जो वास्तव में प्रमाद है। जब हम भोक्ता नहीं हैं, तब भोग हमारी वास्तविक चाह नहीं है।

अब विचार यह करना है कि हम अपने को भोक्ता कब से मानते हैं और क्यों मानते हैं? इस सम्बन्ध में यह कहना होगा कि उस काल का निर्णय कोई नहीं कर सका कि किस काल में अपने को भोक्ता स्वीकार किया था और अपने को भोक्ता क्यों मानते हैं? इस विषय में केवल यह संकेत किया जा सकता है कि देहाभिमान के कारण मानते हैं।

भोग के परिणाम में भोग से अरुचि होती है और भोग से अतीत के जीवन की रुचि जाग्रत होती है। इस आधार पर ही हमें यह मान लेना पड़ता है कि भोक्ता होकर रहना हमारा नित्य-जीवन नहीं है। अतः भोग से अतीत के जीवन की जिज्ञासा जाग्रत होना अनिवार्य है।

अब विचार यह करना है कि वर्तमान परिस्थिति से हमें ममता करनी है अथवा उसके द्वारा साधन निर्माण करके साध्य से अभिन्न होना है। शरीर आदि प्रत्येक वस्तु साधन-सामग्री है। उसके प्रति ममता न करके उसके द्वारा अपने साध्य को प्राप्त करना है।

साध्य वही हो सकता है, जिससे देश-काल की दूरी न हो और साधन वही हो सकता है, जो विद्यमान राग की निवृत्ति में समर्थ हो। राग-रहित होते ही अनुराग का उदय स्वाभाविक है और राग-रहित होते ही अविवेक की निवृत्ति भी अनिवार्य है।

अविवेक निवृत्त होते ही अहंभावरूपी अणु स्वतः गल जाता है। उसके गलते ही सब प्रकार के भेद तथा भिन्नताएँ मिट जाती हैं और अपने साध्य से अभिन्नता हो जाती है।

परतन्त्रता केवल अस्वाभाविक इच्छाओं की पूर्ति में है, स्वाभाविक लालसा की पूर्ति में नहीं। अस्वाभाविक इच्छाओं की निवृत्ति स्वाभाविक लालसा की पूर्ति की सामर्थ्य प्रदान करती है। अस्वाभाविक इच्छाओं की निवृत्ति वर्तमान परिस्थिति के सदुपयोग में निहित है।

हमसे सबसे बड़ी भूल यही होती है कि जिसकी प्राप्ति वर्तमान में हो सकती है, उसके लिए भविष्य की आशा करते हैं और जिसकी प्राप्ति सम्भव ही नहीं है, उसके लिए गतिशील रहते हैं।

परिवर्तनशील परिस्थिति किसी भी प्रकार से नित्य नहीं रह सकती। हाँ, यह अवश्य है कि उसके उपयोग-मात्र से परिस्थितियों से असंगता हो सकती है। परिस्थितियों की असंगता हमें उस जीवन की ओर ले जाती है; जो अनन्त, नित्य तथा चिन्मय है और जिसकी प्राप्ति वर्तमान में ही सम्भव है, भविष्य की आशा पर नहीं।

जो कर सकते हैं, उसके कर डालने पर, जो होना चाहिए, वह स्वतः होने लगता है और फिर जो प्राप्य है, उसकी प्राप्ति स्वतः हो जाती है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक साधन-निर्माण तथा साध्य की प्राप्ति में सर्वदा स्वतन्त्र है।

(4)

व्यक्तित्व की दासता

संकल्प-उत्पत्ति का क्षोभ जब तक सहन होता है और संकल्पों की पूर्ति का श्रम जब तक सुखद प्रतीत होता है, तब तक निर्विकल्पता नहीं आती; क्योंकि निर्विकल्प होने का अधिकार उसी को प्राप्त होता है, जिसे संकल्प की उत्पत्ति भी सहन न हो और उसकी पूर्ति के श्रम में केवल कर्त्तव्य-बुद्धि भले ही रहे, पर सुख तथा सन्तोष न हो; कारण, कि प्रत्येक संकल्पपूर्ति के अन्त में प्राणी उसी स्थिति में आता है, जिसमें संकल्प की उत्पत्ति से पूर्व था। तो फिर संकल्प-पूर्ति के श्रम से क्या लाभ?

हाँ, यह अवश्य है कि संकल्प-पूर्ति जिस परिस्थिति को उत्पन्न करती है, वह परिस्थिति भले ही पूर्ति से पूर्व की परिस्थिति से भिन्न हो; पर कोई ऐसी परिस्थिति हो ही नहीं सकती, जिसमें किसी-न-किसी प्रकार का अभाव तथा अपूर्णता न हो।

परिस्थिति का बाह्य रूप भले ही ऊँचा-नीचा प्रतीत हो, किन्तु वस्तुतः उसके अर्थ में कोई अन्तर नहीं होता, जैसे $\frac{3}{4}$ को $\frac{75}{100}$ कर दिया जाये, तो मूल्य कुछ नहीं बढ़ता।

इस दृष्टि से संकल्प-पूर्ति का प्रयास अपने को बहलाने के अतिरिक्त कुछ अर्थ नहीं रखता।

दूसरी बात यह है कि जिन संकल्पों को पूरा होना है, वे होकर ही रहेंगे। संकल्प-पूर्ति की आशा लेकर तो केवल हम अपने ही को किसी अप्राप्त परिस्थिति में आबद्ध करते हैं, अर्थात् परतन्त्रता का आह्वान करते हैं और कुछ नहीं।

यह सभी को मान्य होगा कि संकल्प की उत्पत्ति मात्र में किसी-न-किसी प्रकार के अभाव का अनुभव और पूर्ति काल में उससे अरुचि तथा शक्तिहीनता आती है, जो किसी को अभीष्ट नहीं है।

केवल संकल्प-पूर्ति के क्षणिक सुख की आसक्ति और प्रवृत्ति-जन्य क्रिया की सुख-लोलुपता ही हमें निर्विकल्प नहीं होने देती। उसका मूल कारण एकमात्र यह है कि संकल्प-निवृत्ति से जो शान्ति मिलती है, उसके महत्त्व को हम जानते तथा मानते नहीं हैं। इसी प्रमाद से संकल्प-पूर्ति की दासता में आबद्ध रहते हैं।

अब विचार यह करना है कि संकल्प-निवृत्ति में जो शान्ति है, उसका महत्त्व तथा महिमा क्या है? तो कहना होगा कि संकल्प-निवृत्ति की शान्ति भोग को योग में, पराधीनता को स्वाधीनता में और जड़ता को चिन्मयता में परिवर्तित करने में समर्थ है। पर व्यक्तित्व का मोह हमें उस शान्ति का आदर नहीं करने देता। यद्यपि हमारे लक्ष्य की पूर्ति निर्विकल्पता से होने वाली चिर-शान्ति में ही निहित है; परन्तु व्यक्तित्व के मोह ने हमें अपने लक्ष्य से विमुख कर दिया है।

अपने सीमित अस्तित्व को सुरक्षित रखने का प्रयास ही व्यक्तित्व का मोह है। यह भली-भाँति जान लेना चाहिए कि मोह सदैव उसी के प्रति होता है, जो परिवर्तनशील हो।

हमसे सबसे बड़ी भूल यह होती है कि जो निरन्तर मिट रहा है, उसके पीछे दौड़ते हैं और जो नित्य प्राप्त है, उससे विमुख रहते हैं। इतना ही नहीं, व्यक्तिभाव को सुरक्षित रखने के लिए पराधीनता को स्वाधीनता के समान ही आदर देते हैं और नित्य प्राप्त स्वाधीनता का निरादर करते हैं। यह व्यक्तित्व के मोह की ही महिमा है कि जड़ता, परतन्त्रता तथा अनेक प्रकार के अभावों में ही हम जीवन मान लेते हैं, यद्यपि इनमें जीवन है नहीं, केवल जीवन का भासपात्र है; अथवा यों कहें कि जड़ता चिन्मयता की, परतन्त्रता, स्वतन्त्रता की एवं व्यक्ति-भाव अनन्त की लालसामात्र है।

यह नियम है कि लालसा में सत्ता उसी की होती है, जिसकी वह लालसा है। इस दृष्टि से बड़े से बड़े व्यक्तित्व का अस्तित्व केवल उस

अनन्त के किसी अंशमात्र में है। यद्यपि व्यक्तित्व की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, परन्तु मोहवश सत्ता-जैसी प्रतीति होती है। व्यक्तित्व के मोह ने ही हमें संकल्पों में आबद्ध कर दिया है और निर्विकल्प नहीं होने दिया। निर्विकल्पता के बिना सामर्थ्य की उपलब्धि सम्भव नहीं है और सामर्थ्य के बिना लक्ष्य की प्राप्ति हो ही नहीं सकती।

अत: जड़ता से अतीत चिन्मय राज्य में प्रवेश करने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि व्यक्तित्व के मोह को त्याग, निर्विकल्पता प्राप्त कर अपने को उस चिन्मय धाम का अधिकारी बना लिया जाए, जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है; परन्तु व्यक्तित्व के मोह को सुरक्षित रखने के लिए हम क्या-क्या नहीं करते हैं! बाल्यकाल में माँ की गोद की ममता के आधार पर व्यक्तिभाव को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया और ज्यों-ज्यों शारीरिक तथा बौद्धिक विकास होता गया, सखाओं, सखियों एवं कुटुम्बीजनों के आधार पर व्यक्तित्व के मोह का पालन-पोषण किया तथा शिक्षित हो जाने के पश्चात् समाज के विभिन्न विभागों के आधार पर व्यक्ति-भाव को सुदृढ़ बनाया।

इतना ही नहीं, समाज में स्थान पाने के लिए और समाज पर शासन करने के लिए अपनी अहंता को अनेक मान्यताओं में आबद्ध किया। कभी रक्षक, कभी सेवक, कभी न्यायाधीश, कभी कलाकार, कभी विज्ञान-वेत्ता बनकर बड़ी-बड़ी कठिनाइयों को सहन करने का प्रयास किया और अपने व्यक्तित्व को सदाचारी, तपस्वी के रूप में जीवित रखा और बड़े-बड़े मान-पत्र तथा पद प्राप्त किए; किन्तु दीनता और अभिमान की अग्नि ज्यों की त्यों प्रज्वलित होती रही। यह सब व्यक्तित्व के मोह की महिमा है।

व्यक्तित्व का मोह रहते हुए संकल्प-विकल्प का प्रवाह निरन्तर चलता ही रहेगा, जिससे हम दीन तथा अनाथ ही रहेंगे। दूसरों की दृष्टि में भले

ही महान् प्रतीत होते हों, पर अपनी दृष्टि में तो अनेक प्रकार के अभावों में आबद्ध ही रहेंगे, जो किसी को भी स्वभावतः प्रिय नहीं है।

अब विचार यह करना है कि क्या हम व्यक्तित्व के मोह को सुरक्षित रखना चाहते हैं या उसको छोड़कर निर्विकल्पता प्राप्त कर नित्य-योग, नित्य-जीवन एवं अनन्त से अभिन्न होना चाहते हैं। निर्विकल्पता वर्तमान जीवन की वस्तु है, उसे प्रत्येक परिस्थिति में प्राप्त किया जा सकता है; क्योंकि उसके लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है।

इसी कारण निर्विकल्पता हमें अनन्त, नित्य, चिन्मय जीवन से अभिन्न करने में समर्थ है और व्यक्तित्व का मोह केवल परतन्त्रता, जड़ता, उद्विग्नता आदि विकारों को ही उत्पन्न करता है। उस पर भी व्यक्तित्व सर्वदा सुरक्षित रह नहीं सकता।

हम भले ही अपनी जयन्तियाँ मनवाएँ और स्मारक बनवाएँ, पर व्यक्तित्व का विरोध तो होता ही रहेगा; क्योंकि व्यक्तित्व का मोह भेद उत्पन्न करता है तथा अहं को पुष्ट करता है।

यदि वर्तमान परिवर्तनशील जीवन को सार्थक करना है, तो व्यक्तित्व के मोह को त्याग, निर्विकल्पता प्राप्त करने के लिए अथक प्रयत्न करना चाहिए।

(5)

परिस्थितियों का सदुपयोग

'हम क्या चाहते हैं?' इस समस्या पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि कोई भी परिस्थिति हमारी वास्तविक चाह नहीं है। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में ही हमारा अधिकार है।

पर जब हम प्रमादवश परिस्थिति का सदुपयोग न करके उसका भोग करने लगते हैं, तब हमें विवश होकर परिस्थितियों का दास होना

पड़ता है, जो वास्तव में अभीष्ट नहीं है; क्योंकि परिस्थितियों की दासता हमें जड़ता, परतन्त्रता आदि में आबद्ध कर देती है।

स्वरूप से प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। उसमें किसी का अहित नहीं है अपितु सभी का हित है। इस दृष्टि से प्रत्येक परिस्थिति आदर के योग्य है। हम मोह तथा आसक्तिवश भले ही परिस्थिति की स्तुति तथा निन्दा करें, वास्तव में तो परिस्थितियों की निन्दा तथा स्तुति के लिए कोई स्थान ही नहीं है; कारण, कि स्तुति उसकी अपेक्षित है, जिससे नित्य सम्बन्ध हो और निन्दनीय वह है, जिससे किसी का अहित हो।

परिस्थिति से नित्य-सम्बन्ध तो सम्भव ही नहीं है, क्योंकि वह स्वभाव से ही सतत परिवर्तनशील है, पर वह निन्दनीय भी नहीं है; क्योंकि उसके सदुपयोग से ही हम परिस्थितियों से अतीत के जीवन का अनुभव कर सकते हैं।

परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि प्रमाद है और साधन-बुद्धि वास्तविकता है। साधन-बुद्धि से प्रत्येक परिस्थिति हितकर है और जीवन-बुद्धि से तो प्रत्येक परिस्थिति हमें दीनता तथा अभिमान में ही आबद्ध करती है। दीनता और अभिमान की अग्नि प्रज्वलित रहते हुए हमें चिर-शान्ति तथा स्थाई प्रसन्नता मिल ही नहीं सकती। शान्ति के बिना सामर्थ्य की प्राप्ति और प्रसन्नता के बिना प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग सम्भव ही नहीं है।

अत: आवश्यक सामर्थ्य की प्राप्ति के लिए शान्ति और प्राप्त सामर्थ्य के सदुपयोग के लिए प्रसन्नता का सुरक्षित रखना अनिवार्य है। पर वह तभी सम्भव होगा, जब हम परिस्थितियों में जीवन-बुद्धि उत्पन्न न होने दें और प्रत्येक परिस्थिति का साधन-बुद्धि से सदुपयोग करने के लिए प्रयत्नशील बने रहें। परिस्थिति का सदुपयोग परिस्थिति से असङ्ग करने में और अनन्त-नित्य-चिन्मय जीवन से अभिन्न करने में समर्थ है।

अब यदि कोई यह कहे कि क्या परिस्थिति नित्य-चिन्मय नहीं हो सकती? तो कहना होगा कि यह प्रश्न वर्तमान जीवन से सम्बन्ध नहीं रखता। हाँ, यह अवश्य है कि हमारी आन्तरिक माँग नित्य-चिन्मय जीवन की ही है। उसकी पूर्ति के लिए चाहे हमें उस जीवन से अभिन्न होना हो अथवा वह जीवन हमारे में अवतरित हो; पर इन दोनों बातों के लिए परिस्थिति से तो असङ्ग होना ही होगा; क्योंकि परिस्थिति से असङ्ग बिना हुए जड़ता से जो हमारा तादात्म्य हो गया है, वह निवृत्त नहीं हो सकता और न काम का ही नाश हो सकता है।

काम का नाश बिना हुए न तो राम से अभिन्नता हो सकती है, न राम से योग ही हो सकता है और न राम का प्रेम ही मिल सकता है। अब विचार यह करना है कि यदि कोई राम की सत्ता ही स्वीकार न करे, तो भी यह तो मानना ही होगा कि काम की अपूर्णता किसी को अभीष्ट नहीं है।

काम से रहित जीवन की माँग स्वाभाविक माँग है। उसी माँग को राम की लालसा के नाम से आस्तिकों ने; नित्य-जीवन के नाम से तत्त्वज्ञों ने और चिर-शान्ति तथा दुःख की निवृत्ति के नाम से भौतिकवादियों ने कहा।

हमें तो सभी वादों का आदर करते हुए अपनी समस्या हल करनी है। समस्या सभी वादों में एक है और मान्यताएँ अनेक हैं। हमें मान्यता में जीवन-बुद्धि नहीं रखनी है, अपितु साधन-बुद्धि रखनी है। साधन-बुद्धि से सभी मान्यताएँ आदरणीय हैं।

अब यदि कोई यह कहे कि सभी साधन-पद्धतियाँ मान्यताएँ हैं, तो फिर सिद्धान्त क्या है? तो कहना होगा कि सिद्धान्त एक है, अनेक नहीं और उसका वर्णन नहीं हो सकता, प्रत्युत् उसकी प्राप्ति हो सकती है; कारण, कि वर्णन करने की सामर्थ्य सीमित है और सिद्धान्त असीम है।

मान्यता का जन्म व्यक्ति की रुचि तथा योग्यता के आधार पर निर्भर है। सर्वांश में दो व्यक्तियों की भी योग्यता तथा रुचि समान नहीं होती है। इस दृष्टि से साधन-पद्धति में भेद होने पर भी सिद्धान्त में कोई भेद नहीं है; क्योंकि सभी की वास्तविक माँग एक है, अनेक नहीं। उस वास्तविक माँग का पता लगाने के लिए ही हमें प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना है, भोग नहीं।

परिस्थिति का भोग तो हमें काम के जाल में ही आबद्ध करता है, जिससे मुक्त होना परम आवश्यक है। यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति उस अनन्त के प्रकाश से ही प्रकाशित है, अथवा यों कहो कि उसी की अभिव्यक्ति है; परन्तु परिवर्तनशील तथा सीमित होने के कारण उससे अतीत की ओर गतिशील होना आवश्यक है। उसके लिए हमें उस अनन्त ही के नाते ऊपर से क्रियाशील तथा भीतर से चिर-शान्त रहना है।

क्रियाशीलता हमें विद्यमान राग से रहित बनाएगी और शान्ति नवीन राग उत्पन्न न होने देगी। राग-रहित होते ही हम बड़ी ही सुगमतापूर्वक अपने लक्ष्य से अभिन्न हो जाएँगे, यह निर्विवाद सिद्ध है।

अब यह विचार करना है कि राग-रहित होने के लिए हमें परिस्थिति का सदुपयोग किस भाव से, किस प्रकार से और किस उद्देश्य की पूर्ति के लिए करना चाहिए, तो कहना होगा कि सर्वहितकारी तथा सर्वात्मभाव ही वास्तविक भाव है, विरक्ति तथा उदारतापूर्वक कार्य करने का ढंग ही वास्तविक ढंग है और उस अनन्त से अभिन्न होने का उद्देश्य ही वास्तविक उद्देश्य है।

यदि परिस्थिति का सदुपयोग करने में उदारता तथा विरक्ति नहीं अपनाई गई, तो सर्वहितकारी भाव स्वार्थभाव में, सर्वात्मभाव देहभाव में और अनन्त नित्य-चिन्मय जीवन का उद्देश्य भोग-प्राप्ति में बदल जाएगा, जो वास्तविक उद्देश्य नहीं है।

इस प्रकार परिस्थिति का सदुपयोग न हो सकेगा, अपितु परिस्थिति का भोग होने लगेगा, जो राग का हेतु है। अत: परिस्थिति का सदुपयोग करने के लिए विरक्ति तथा उदारता को अपना लेना अनिवार्य होगा; तभी अनन्त से अभिन्न होने के उद्देश्य की पूर्ति हो सकेगी।

परिस्थिति का भोग हमें कर्त्तव्य के अभिमान में आबद्ध कर कर्म में प्रवृत्त करता है और सुख-दु:खरूपी फल को प्राप्त कराता है। जिस प्रकार बीज, वृक्ष और फल में जातीय एकता तथा गुणों की भिन्नता है, उसी प्रकार कर्ता, कर्म तथा फल में जातीय एकता और गुणों की भिन्नता है।

परिस्थिति का सदुपयोग कर्ता को साधक, कर्म को साधन तथा फल को साध्य के रूप में अथवा प्रेमी, प्रेम और प्रेमास्पद के रूप में अथवा जिज्ञासु, जिज्ञासा तथा तत्त्व ज्ञान के रूप में अथवा सेवक, सेवा और सेव्य के रूप में बदल देता है।

जिस प्रकार कर्ता, कर्म और फल में जातीय एकता है, उसी प्रकार साधक, साधन और साध्य में; प्रेमी, प्रेम और प्रेमास्पद में; जिज्ञासु, जिज्ञासा और तत्त्व-ज्ञान में; तथा सेवक, सेवा और सेव्य में भी जातीय एकता है।

अतएव हमें अपने को साधक, प्रेमी, जिज्ञासु और सेवक मानकर ही परिस्थिति का सदुपयोग करना चाहिए। साधक 'साधन' होकर, प्रेमी 'प्रेम' होकर, सेवक 'सेवा' होकर और जिज्ञासु 'जिज्ञासा' होकर अपने-अपने लक्ष्य से अभिन्न होते हैं।

साध्य, प्रेमास्पद, तत्त्वज्ञान और सेव्य किसी एक ही के नाम हैं; क्योंकि सत् में कल्पना भेद भले ही हो, पर जातीय तथा स्वरूप का भेद नहीं होता।

जब हमारी वास्तविक चाह परिस्थितियों से अतीत के जीवन की है, तब हमें परिस्थितियों का भोग न करके, उनका सदुपयोग करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए।

तभी हम अपने उद्देश्य की पूर्ति करने में समर्थ हो सकेंगे। परिस्थितियों के सदुपयोग में किसी प्रकार की भी असमर्थता तथा परतन्त्रता नहीं है। प्राप्त का सदुपयोग ही परिस्थिति का सदुपयोग है।

(6)

व्यक्तित्व के मोह की निवृत्ति

जीवन के अध्ययन से हमें यह स्पष्ट विदित होता है कि व्यक्तित्व के मोह ने ही हमें अपने वास्तविक लक्ष्य से अभिन्न नहीं होने दिया; कारण कि व्यक्तित्व का मोह हमें सीमित और परिवर्तनशील जीवन में आबद्ध करता है।

यद्यपि विवेक-दृष्टि से किसी भी व्यक्तित्व का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, परन्तु प्रमादवश व्यक्तित्व का अस्तित्व प्रतीत होता है। उस प्रतीति में सद्भाव होने से ही मोह की उत्पत्ति होती है, जो अनेक विकार उत्पन्न करने में समर्थ है।

यह नियम है कि जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, उसी से संयोग और मोह होता है एवं जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व होता है, उससे नित्य-योग तथा प्रेम होता है।

संयोग और मोह कामनाओं में आबद्ध कर, भेद उत्पन्न करते हैं एवं नित्य-योग तथा प्रेम कामनाओं का अन्त कर, अभिन्नता प्रदान करते हैं। इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि व्यक्तित्व के मोह ने ही हमें अनन्त से विमुखता तथा भिन्नता प्रदान की है।

यह सभी को मान्य होगा कि भिन्नता से भेद की उत्पत्ति होती है और भेद से हिंसा, भय आदि दोष उत्पन्न होते हैं। भयभीत होकर ही प्राणी दूसरों को भय देने में प्रवृत्त होता है और हिंसक बन जाता है; जब

कि स्वभावत: सभी को अपनी रक्षा अभीष्ट है। अर्थात् अपने प्रति कोई भी हिंसा नहीं चाहता, तब फिर हिंसा का जीवन में स्थान ही कहाँ है?

व्यक्तित्व की दासता हमें हिंसक बना देती है, जिससे हम परम प्रेम से वंचित हो जाते हैं। वास्तव में परम प्रेम ही जीवन है। अत: यह निर्विवाद सिद्ध है कि व्यक्तित्व का मोह ही जीवन से मृत्यु की ओर ले जाता है, जो किसी को भी अभीष्ट नहीं है।

यद्यपि स्वरूप से भेद जैसी कोई वस्तु है ही नहीं, पर व्यक्तित्व के मोह के कारण अनेक भेद प्रतीत होते हैं। भेद से सीमित प्यार और सीमित प्यार से अनेक प्रकार के संघर्ष होने लगते हैं, जो विनाश के मूल हैं। इसके अतिरिक्त यदि हम विचार करें, तो यह जान पड़ता है कि प्राप्त वस्तु आदि से ममता और अप्राप्त वस्तुओं की इच्छा उत्पन्न करने में भी व्यक्तित्व का मोह ही कारण है।

प्राप्त वस्तुओं की ममता हमें हानि से तथा प्राप्त व्यक्तियों की ममता हमें वियोग के भय से मुक्त नहीं होने देती और अप्राप्त वस्तुओं और व्यक्तियों की इच्छा हमें व्यर्थ चिन्तन से रहित नहीं होने देती। वियोग तथा हानि का भय लोभ तथा मोह में आबद्ध करता है और व्यर्थ-चिन्तन हमें अचिन्त नहीं होने देता एवं न सार्थक-चिन्तन ही उत्पन्न होने देता है।

अचिन्त हुए बिना निर्विकल्पता नहीं आ सकती और निर्विकल्पता के बिना चिर-शान्ति तथा नित्य-योग की उपलब्धि नहीं हो सकती। चिर-शान्ति के बिना आवश्यक सामर्थ्य का विकास नहीं होता। सामर्थ्य के बिना जो करना चाहिए, उसे कर नहीं पाते। कर्त्तव्यपरायणता के बिना जो मिलना चाहिए, वह मिल नहीं पाता, अर्थात् लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो पाती।

कर्त्तव्यपरायणता वर्तमान जीवन की वस्तु है, परन्तु प्राप्त वस्तु आदि की ममता तथा अप्राप्त वस्तु आदि का चिन्तन हमें कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं होने

देते। प्राप्त वस्तुओं का सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा अभीष्ट है, उनके साथ ममता नहीं।

प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग से निर्लोभता का जन्म होता है और अप्राप्त वस्तुओं के चिन्तन के त्याग से निर्लोभता पुष्ट होती है। निर्लोभता आ जाने पर दरिद्रता स्वत: मिट जाती है और फिर वस्तुओं की दासता शेष नहीं रहती। वस्तुओं की दासता से मुक्त होते ही व्यक्तियों की सेवा करने का भाव स्वत: जाग्रत होता है।

व्यक्तियों की सेवा हमें मोह-रहित बनाने में समर्थ है। निर्मोहता आ जाने पर प्रेमरूपी सूर्य स्वत: उदय होता है, जो भेदरूपी अन्धकार को खाकर अभिन्नता प्रदान करता है, जो वास्तविक जीवन है।

वास्तविक जीवन वर्तमान की वस्तु है, भविष्य की नहीं। अत: हमें जीवन के अध्ययन के द्वारा व्यक्तित्व के मोह से रहित होने के लिए वर्तमान में ही सतत प्रयत्नशील होना चाहिए। यह तभी सम्भव हो सकता है, जब विवेकपूर्वक व्यक्तित्व के मोह को त्यागकर निर्लोभता, निर्मोहता प्राप्त करें अथवा निर्लोभता-निर्मोहतापूर्वक व्यक्तित्व के मोह का अन्त करें।

अपनी-अपनी योग्यतानुसार जिसे जैसा सुगम प्रतीत हो, उसे उसी के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। साधन-परायणता प्रत्येक व्यक्ति की योग्यता तथा रुचि के अनुरूप ही सम्भव है।

मान्यता का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करना ही व्यक्तित्व के मोह को जन्म देता है। यद्यपि साधनरूप मान्यता कर्त्तव्यपरायणता प्रदान करती है और कर्त्तव्यपरायणता विद्यमान राग को खाकर, राग-रहित करने में समर्थ होती है। परन्तु वह तब सम्भव है, जब हम मान्यता का स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार न करें। केवल साधन-बुद्धि से जब जिस मान्यता की आवश्यकता हो, उसे अपनाएँ और उससे अतीत होकर व्यक्तित्व के मोह से रहित हो जाएँ।

व्यक्तित्व के मोह से रहित होते ही निर्वासना आ आएगी। वासनाओं का अन्त होते ही मन में निर्विकल्पता, बुद्धि में समता, हृदय में निर्भयता और चित्त में प्रसन्नता स्वत: आ जाती है। मन की निर्विकल्पता तथा बुद्धि की समता सब प्रकार के द्वन्द्वों का अन्त करने में समर्थ है। द्वन्द्वों का अन्त होते ही नि:सन्देहता तथा परम प्रेम की प्राप्ति होती है, जो सभी को अभीष्ट है।

(7)

हमारी वास्तविक आवश्यकता

वर्तमान परिवर्तनशील जीवन में प्रथम प्रश्न यही है कि हमारी वास्तविक आवश्यकता क्या है? जिस प्रकार पथिक अपने निर्दिष्ट स्थान को बिना माने अथवा बिना जाने मार्ग का निर्णय नहीं कर सकता और न निश्चिन्ततापूर्वक चल ही सकता है, उसी प्रकार हम अपनी आवश्यकता को बिना जाने अथवा बिना माने उसकी पूर्ति के लिए न तो नि:सन्देहतापूर्वक साधन का निर्माण ही कर सकते हैं और न निर्णीत साधन का अनुसरण ही कर सकते हैं।

अत: साधनपरायण होने के लिए अपने साध्य को जानना अथवा मानना अनिवार्य हो जाता है।

यह नियम है कि जो जिस स्थिति में आबद्ध होता है, वह उसी के अनुरूप अपनी चाह को जानता अथवा मानता है। परिवर्तनशील स्थिति से उत्पन्न होने वाली चाह वास्तविक आवश्यकता नहीं हो सकती; क्योंकि स्थिति बदलने से चाह बदल जाएगी और चाह बदलने से उसकी पूर्ति का साधन भी बदल जाएगा।

आवश्यकता का निर्णय होने पर ही साधन का निर्णय हो सकेगा। साधन का निर्णय होने पर ही साधनपरायणता सम्भव होगी। अत: वास्तव

में हमारी आवश्यकता है क्या, इसका निर्णय वर्तमान में ही करना होगा। उसके लिए अपनी वर्तमान दशा का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

रुचि, योग्यता और आवश्यकता का ज्ञान ही वर्तमान दशा का अध्ययन है। व्यक्तित्व के अभिमान में आबद्ध प्राणी अप्राप्त परिस्थितियों का ही आह्वान करता रहता है और उसी को अपनी आवश्यकता मान लेता है। यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति सतत परिवर्तनशील है; परन्तु व्यक्तित्व का मोह हमें परिस्थितियों की दासता से मुक्त नहीं होने देता। परिस्थितियों की दासता वियोग, हानि तथा अपमान आदि का भय उत्पन्न करती है। यह सभी को मान्य होगा कि भय किसी को भी स्वभाव से प्रिय नहीं है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारी वास्तविक आवश्यकता सभी परिस्थितियों से अतीत की है। परिस्थितियों से अतीत का जीवन ही हमारा जीवन है। उसी में प्रवेश करने के लिए योग्यता, सामर्थ्य तथा रुचि के अनुरूप साधन-निर्माण करना है। आवश्यकता के ज्ञान की दृढ़ता साधन-निर्माण में समर्थ है और साधनपरायणता आवश्यकता-पूर्ति का हेतु है।

इस दृष्टि से साधन-निर्माण और साधनपरायणता वर्तमान जीवन की वस्तु है। इस समस्या को भविष्य पर छोड़ना प्रमाद के सिवा और कुछ नहीं है। प्रमाद का साधन-युक्त जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

प्रमाद के रहते हुए व्यक्तित्व का मोह सुरक्षित रहता है और व्यक्तित्व का महत्त्व बढ़ाने तथा उसको विभु बनाने के लिए हम अपने को स्वावलम्बन, सदाचार तथा परोपकार आदि सद्गुणों के अभिमानों में बाँध लेते हैं। यद्यपि समाज में इन गुणों का बड़ा आदर है, परन्तु गुणों का अभिमान व्यक्तित्व के मोह को ही पुष्ट करता है।

स्वावलम्बी होने के लिए सदाचार तथा शिक्षा अपेक्षित है और व्यक्तित्व को विभु बनाने के लिए परोपकारी होना आवश्यक है। व्यक्तित्व

का मोह रहते हुए हमारा स्वावलम्बन भी परावलम्बन ही है। जैसे, हम विद्वत्ता का उपयोग करने के लिए विद्यार्थियों का और सामर्थ्य का उपयोग करने के लिए असमर्थों का आश्रय लेते हैं तथा उसके परिणाम में जो आदर, प्यार और वस्तुएँ मिलती हैं, उन्हें ही अपना जीवन मान लेते हैं। इस प्रकार हम ऊपर से स्वावलम्बी और भीतर से परतन्त्र ही बने रहते हैं।

उस परतन्त्रता की सुदृढ़ शृंखला को तोड़ने के लिए हमें सद्गुणों के रहते हुए भी उनके अभिमान से मुक्त होना ही पड़ेगा, तभी हम निर्दोषतापूर्वक वास्तविक स्वाधीनता प्राप्त कर सकेंगे, जो हमारी आवश्यकता है।

आवश्यकता-पूर्ति के लिए अनिवार्य हो जाता है कि जिन इच्छाओं ने उसे ढक लिया है, उनका अन्त कर दिया जाए। कोई भी इच्छा आवश्यकता को मिटा नहीं पाती; क्योंकि आवश्यकता उसकी है, जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है और इच्छा उसकी है, जिससे केवल मानी हुई एकता है। जिस प्रकार बादलों का समूह सूर्य को मिटा नहीं पाता, अपितु नेत्र और सूर्य के बीच एक प्रतिबन्ध मात्र ही सिद्ध होता है, उसी प्रकार इच्छाओं का समूह आवश्यकता को मिटा नहीं पाता, केवल उसकी पूर्ति में प्रतिबन्ध-मात्र ही सिद्ध होता है।

जिस प्रकार सूर्य बादलों के समूह को छिन्न-भिन्न कर अपने को प्रकाशित करने में समर्थ है, उसी प्रकार आवश्यकता की जागृति इच्छाओं के समूह को निवृत्त करने में समर्थ है। अत: आवश्यकता की जागृति ही इच्छाओं के अन्त करने का मुख्य साधन है।

आवश्यकता के ज्ञान को सबल तथा स्थाई बनाने के लिए हमें वर्तमान का सदुपयोग और जिनसे हमारी जातीय एवं स्वरूप की एकता है, उनसे नित्य-सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ेगा, जो नित्य-योग तथा नित-नव प्यार प्राप्त कराने में समर्थ है। नित्य-योग से चिर-शान्ति और शान्ति से आवश्यक सामर्थ्य स्वत: प्राप्त होती है।

नित्य-सम्बन्ध स्वीकार करने के लिए हमें माने हुए सम्बन्ध का त्याग करना होगा। अब विचार यह करना है कि हमारा माना हुआ सम्बन्ध किससे है? अपने को देह मान लेने पर हमारा सम्बन्ध वस्तु, अवस्था, व्यक्ति आदि से हो जाता है। वस्तुओं की दासता लोभ और व्यक्तियों की दासता मोह एवं अवस्था की तद्रूपता जड़ता उत्पन्न करती है। लोभ, मोह तथा जड़ता में आबद्ध प्राणी परिस्थितियों का दास बन जाता है।

अपने को देह मान लेने अथवा देह को अपना मान लेने से परिस्थितियों की दासता उत्पन्न होती है। परिस्थितियों की दासता देहभाव को पुष्ट करती है।

यदि विवेकपूर्वक देहभाव का त्याग कर दिया जाए, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक माना हुआ 'मैं' और माना हुआ 'मेरा' मिट जाता है, जिसके मिटते ही असंगतापूर्वक नित्य-योग स्वत: प्राप्त होता है; उससे माना हुआ सम्बन्ध सदा के लिए मिट जाता है। फिर शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि सभी से अपनी भिन्नता का अनुभव हो जाता है। तब वस्तु, व्यक्ति आदि की कामनाएँ मिट जाती हैं। उनके मिटते ही वास्तविक आवश्यकता जाग्रत होती है, जो अपनी पूर्ति में आप समर्थ है।

वास्तविक आवश्यकता की पूर्ति से पूर्व हम संसार को चाहते हैं, पर संसार हमें नहीं चाहता और आवश्यकता की पूर्ति होने पर संसार हमें चाहता है, किन्तु हम संसार को नहीं चाहते। यह बात भी तभी तक कही जा सकती है, जब तक सर्वांश में व्यक्तित्व का मोह गल नहीं जाता।

व्यक्तित्व का मोह गल जाने पर तो यह पता ही नहीं चलता कि संसार हमें चाहता है या हम संसार को नहीं चाहते हैं अथवा यों कहो कि हमारा और संसार का भेद मिट जाता है। फिर अपने पास मन, बुद्धि आदि भी नहीं रहते; वे सब उस अनन्त से अभिन्न हो जाते हैं, जिसके किसी अंशमात्र में समस्त विश्व है।

वास्तविक आवश्यकता की पूर्ति के लिए हमें सर्वप्रथम प्राप्त वस्तु, योग्यता आदि का सद्व्यय करना होगा और उसके बदले में मान, बड़ाई आदि को स्वीकार नहीं करना होगा; कारण, कि संग्रह का सद्व्यय विद्यमान राग की निवृत्ति का हेतु है और उसके बदले में कुछ न लेने से नवीन राग की उत्पत्ति न होगी।

वर्तमान राग की निवृत्ति तथा नवीन राग की उत्पत्ति न होने पर बड़ी ही सुगमतापूर्वक हमारा उस जीवन में प्रवेश हो जाएगा, जो दिव्य, चिन्मय एवं नित्य है।

प्राप्त वस्तु, योग्यता आदि को अपना मान लेना ईमानदारी नहीं है; क्योंकि जिस किसी को जो कुछ मिला है, वह उस अनन्त ही की देन है।

अब यदि कोई यह कहे कि हमें जो कुछ मिला है, वह तो हमारे ही कर्मों का फल है। तो यह कहना होगा कि आरम्भ में कर्म आपने किस सामर्थ्य के द्वारा किया? तब विवश होकर यह मानना ही पड़ेगा कि जो कुछ मिला है, वह किसी की देन है; कोई भी वस्तु व्यक्तिगत नहीं है।

हाँ, यह अवश्य है कि प्राप्त का उपयोग करने में व्यक्तिगत अधिकार है और उसमें ममता करना भूल है। मिले हुए अधिकार का उपयोग साधन है और उस पर स्वत्व स्थापित करना असाधन है।

अब विचार यह करना है कि उस अनन्त की ओर से जो कुछ मिला है, उसका सदुपयोग क्या है? तो कहना होगा कि प्राप्त बल से निर्बलों के अधिकार की रक्षा और प्राप्त विवेक से अविवेक की निवृत्ति करना अथवा अपने कर्त्तव्य और दूसरों के अधिकार का ज्ञान ही मिले हुए बल और विवेक का सदुपयोग है।

बल का दुरुपयोग और विवेक का अनादर सभी दोषों का मूल है, जिसका साधनयुक्त जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। बल के सदुपयोग से बल का अभिमान गल जाता है और निर्बलों की सेवा हो जाती है। अभिमान गलते ही सभी दोष स्वतः मिट जाते हैं।

विवेक के आदर से दीनता मिट जाती है और कर्त्तव्यनिष्ठता की सामर्थ्य प्राप्त होती है। दीनता और अभिमान मिट जाने पर अहंरूपी अणु टूट जाता है और फिर अनन्त से अभिन्नता प्राप्त होती है, जो वास्तविक आवश्यकता है।

विवेक और प्रीति से ही वास्तविक आवश्यकता की पूर्ति हो सकती है, अन्य किसी प्रकार से नहीं। विवेक और प्रीति श्रम नहीं हैं, अपितु स्वाभाविक विभूतियाँ हैं, जो उस अनन्त की अहैतुकी कृपा से मिली हैं। हम उनकी दी हुई विभूति से ही उन्हें प्राप्त कर सकते हैं।

'वे' हमसे देश-काल की दूरी पर नहीं हैं। उन्होंने हमारा त्याग नहीं किया है; हमीं उनसे विमुख हुए हैं। उस विमुखता को मिटाने के लिए ही उन्होंने हमें प्रीति और विवेक प्रदान किया है। विवेक से अस्वाभाविक चाह की निवृत्ति और प्रीति से स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति स्वत: हो जाती है। अत: जीवन में असफलता के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

हमारे जीवन में जो श्रम दिखाई देता है, वह तो केवल अस्वाभाविक चाह की प्रवृत्तियों में है, स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति में नहीं। यह नियम है कि प्रवृत्ति, निवृत्ति में विलीन होती है, पूर्ति में नहीं। इस दृष्टि से अस्वाभाविक चाह की पूर्ति सम्भव नहीं है; उसे तो निवृत्त ही करना होगा। अस्वाभाविक चाह की निवृत्ति में ही स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति की सामर्थ्य निहित है।

अस्वाभाविक चाह की निवृत्ति में विवेक अपेक्षित है, श्रम नहीं; कारण, कि अस्वाभाविक चाह की उत्पत्ति अविवेक सिद्ध है। जब विवेकरूपी सूर्य अविवेकरूपी अन्धकार को खा लेता है, तब अस्वाभाविक चाह मिट जाती है; जिसके मिटते ही प्रीति स्वत: उदय होती है, जो प्रियतम से अभिन्न कर देती है।

हमारा प्रियतम हमसे दूर नहीं है, हमीं में छिपा है। उसे उत्पन्न नहीं करना है, अपितु उसकी खोज करनी है। खोज वर्तमान जीवन की वस्तु है, भविष्य की नहीं। अपने खोए हुए प्रियतम को कहीं बाहर नहीं ढूँढ़ना है, प्रत्युत् अपने ही में अपने द्वारा उन्हें पाना है; कारण, कि वे अपने ही में अन्तर्निहित हैं। अत: अस्वाभाविक चाह के मिटाने में और स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति में प्रत्येक साधक सर्वदा स्वतन्त्र है।

(8)

मान्यता, विधान और जीवन की एकता

हमारे सभी प्रश्नों के मूल में एक ही बात है कि हम अपने अस्तित्व को किस रूप में स्वीकार करते हैं। अपने अस्तित्व को स्वीकार करने में किसी को कोई आपत्ति ही नहीं है; पर उसका वास्तविक अर्थ क्या है, इसे तो कोई विरले ही जान पाते हैं।

हमारी सभी मान्यताएँ हमें अस्तित्व के स्वरूप में भासती हैं। यद्यपि हम एक हैं और मान्यताएँ अनेक; परन्तु एक काल में एक ही मान्यता का प्रभाव तथा सद्भाव प्रतीत होता है। हाँ, यह अवश्य है कि मान्यता का परिवर्तन बड़ी ही तीव्र गति से होता है। जैसे—जो व्यक्ति अपने माता-पिता के सामने पुत्र है, वही पुत्र के सामने पिता है और वही पत्नी के लिए पति है और बहिन के लिए भाई है। इतना ही नहीं, पड़ौसियों के लिए पड़ौसी, नगर के लिए नागरिक, देश के लिए देशवासी और समाज के लिए एक सदस्य भी है।

पर ये सभी मान्यताएँ केवल अपने को देह मान लेने पर ही निर्भर हैं। इतने ही में मान्यताएँ समाप्त नहीं हो जातीं; मत, सम्प्रदाय, दल, विचारधारा आदि के अनुरूप भी मान्यताएँ प्रकाशित होती हैं।

जो मान्यताएँ साधनरूप हैं, वे कर्त्तव्य का पाठ पढ़ाती हैं और जो मान्यताएँ असाधनरूप हैं, वे हमें दोषी बनाती हैं। साधनरूप मान्यताएँ वे हैं, जो विद्यमान राग की निवृत्ति में और दूसरों के अधिकार की पूर्ति में समर्थ हैं और असाधनरूप मान्यताएँ वे हैं, जो राग की वृद्धि में और दूसरों के अहित में हेतु हैं।

असाधनरूप मान्यताओं का त्याग अनिवार्य है और साधनरूप मान्यताओं के अनुरूप साधनपरायण होकर, राग-रहित होना आवश्यक है। रागरहित होकर वास्तविक अस्तित्व से अभिन्न होना है अर्थात् मान्यताओं से अतीत के जीवन में प्रवेश करना है।

यह सभी को मान्य होगा कि व्यक्ति में किसी न किसी प्रकार का राग विद्यमान है ही, जिसकी निवृत्ति अनिवार्य है। यह हम भले ही न जानें कि राग का आरम्भ कब से हुआ, पर राग-रहित होने की रुचि अवश्य है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि राग से हमारी जातीय एवं स्वरूप की एकता नहीं है; क्योंकि राग रहते हुए हम जड़ता एवं परतन्त्रता आदि दोषों में आबद्ध रहते हैं, जो स्वभाव से ही प्रिय नहीं है। विद्यमान राग की निवृत्ति के लिए ही हमें वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति मिली है।

अतः राग-निवृत्ति के लिए ही प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना है। परिस्थिति को जीवन मानकर उससे तद्रूप नहीं रहना है। परिस्थिति के सदुपयोग के लिए ही हमें उन स्वीकृतियों को अपनाना है, जो साधनरूप हैं।

साधनरूप स्वीकृति में बीजरूप से कर्त्तव्य का विधान निहित है। उसकी जानकारी के लिए हमें अपने जाने हुए असत् तथा दोष का त्याग करना है, जिसके करते ही साधन-रूप मान्यता के अनुसार कर्त्तव्यपरायणता स्वतः प्राप्त हो जाएगी, जिससे जगत् और जगत्-पति के अधिकार की रक्षा होगी तथा राग 'अनुराग' में और भोग 'योग' में स्वतः बदल जाएगा।

अब यह विचार करना है कि जगत् और जगत्-पति का क्या अधिकार है ? यह नियम है कि जो किसी एक का अधिकार होता है, वही किसी दूसरे का कर्त्तव्य होता है। अत: जगत् और जगत्-पति का अधिकार ही अपना कर्त्तव्य है। जगत् से प्राप्त संग्रह का सद्व्यय ही जगत् का अधिकार है। इस दृष्टि से शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि वस्तुओं द्वारा हमें जगत् की सेवा करनी है। ज्ञान-विज्ञान तथा कलाओं के रूप में जो भी सौन्दर्य प्राप्त है, उसके द्वारा भी जगत् के अधिकार की रक्षा करनी है; पर उसके बदले में जगत् से कुछ लेना नहीं है।

इतना ही नहीं, यदि बिना ही माँगे जगत् से कुछ मिले, तो उसे भी जगत् ही को वापस कर देना है, नहीं तो नवीन राग उत्पन्न हो जाएगा, जो अवनति का मूल है।

अब यह विचार करना है कि जगत्पति हमसे क्या आशा करते हैं, उनका हम पर क्या अधिकार है ? जिनके अंशमात्र में समस्त जगत् विद्यमान है, उन्हें किसी वस्तु आदि की तो अपेक्षा हो ही नहीं सकती। जिनके अनन्त सौन्दर्य से सभी को सौन्दर्य मिला हो, उन्हें किसी परिवर्तनशील सौन्दर्य की आवश्यकता हो ही नहीं सकती। जिनकी सत्ता से ही सभी को सत्ता मिली हो, उन्हें किसी अस्तित्व की तो अपेक्षा है ही नहीं। फिर हम 'उन्हें' क्या दे सकते हैं ? केवल यही दे सकते हैं कि, 'हम सदैव तेरे हैं और तुम सदैव मेरे हो।' अर्थात् उनसे नित्य-सम्बन्ध स्वीकार करना ही उनके अधिकार की रक्षा है।

जगत् के अधिकार जगत् को दे डालने पर, हम जगत् से मुक्त हो जाते हैं और जगत्पति के अधिकार की रक्षा करते ही हम उनसे अभिन्न हो जाते हैं; अथवा यों कहो कि उनका प्रेम प्राप्त हो जाता है।

साधनरूप मान्यता और उसके विधान के अनुरूप जीवन हमें मान्यता से अतीत करने में समर्थ है। इतना ही नहीं, मान्यता के अनुरूप

जीवन होने पर जीवन मान्यता का चित्र बन जाता है; जैसे, क्षमाशील का जीवन क्षमा का प्रतीक बन कर क्षमा के प्रकाशन में समर्थ होता है।

अब कोई यदि यह कहे कि ऐसा तो सम्भव नहीं है तो कहना होगा कि क्रोध आने पर, क्या क्रोध का परिचय क्रोधी के जीवनरूप चित्र से नहीं होता? हमने अपने जीवन में क्षमा, करुणा, प्रेम, त्याग आदि का चित्र न देखा हो; पर क्रोध, कठोरता, मोह आदि का चित्र तो अनेक बार देखा ही है। जब दोषों का प्रकाशन हमारे जीवनरूपी चित्रों से हो सकता है, तब क्या दिव्य गुणों का प्रकाशन जीवनरूपी चित्रों से नहीं हो सकता? अवश्य हो सकता है।

अत: साधनरूप मान्यता, उसके विधान और जीवन की अनुरूपता का प्रकाशन हमारे जीवनरूप चित्र से अवश्य होना चाहिए। सच तो यह है कि जीवनरूपी चित्र की तो कौन कहे, काष्ठ, पत्थर आदि की प्रतिमाएँ देखकर भी दिव्य गुणों का प्रकाशन होने लगता है। इतना ही नहीं, जिन-जिन स्थानों पर महापुरुषों ने निवास किया है अथवा विचरे हैं, उन स्थानों का प्रभाव भी उनके जीवन का दर्शन कराता है।

आज जो हमारी साधनरूप मान्यता हमारे जीवन से प्रदर्शित नहीं होती, उसका एकमात्र कारण मान्यता, विधान और जीवन में भिन्नता ही है, और कुछ नहीं। यह नियम है कि साधनरूप जीवन से साधन का और असाधनरूप जीवन से असाधन का प्रचार स्वत: होता है। यद्यपि असाधनरूप मान्यताओं को कोई भी अपनी ओर से घोषित नहीं करता कि, 'मैं चोर हूँ', 'धोखा देना जानता हूँ', 'मिथ्यावादी हूँ' इत्यादि, परन्तु जीवन के द्वारा उन दोषों का प्रचार स्वत: होने लगता है अर्थात् बुराइयों की कहीं पाठशाला नहीं खोली जाती। प्रचार तो सदाचार आदि दिव्य गुणों का ही किया जाता है, परन्तु दोषों का प्रचार स्वत: होने लगता है; इसका एकमात्र कारण हमारा साधन-रहित जीवन ही है।

हमारे मत, सम्प्रदाय, विचारधारा आदि का विरोध सिद्धान्त रूप से नहीं होता, अपितु हमारा दोषयुक्त जीवन ही हमारे सिद्धान्तों का विरोध कराने में हेतु है। हम अपने सिद्धान्तों की महिमा का वर्णन करके उनका प्रचार चाहते हैं; पर वास्तविक प्रचार तो उन सिद्धान्तों का होगा, जिनका चित्र हमारे जीवन में दिखाई देता है। अर्थात् दोषयुक्त जीवन से दोष और निर्दोष जीवन से निर्दोषता स्वत: फैलेगी, यह निर्विवाद सिद्ध है।

साधनरूप सभी मान्यताएँ हमें निर्दोष बनाने में समर्थ हैं और निर्दोषता आ जाने पर तत्त्व-जिज्ञासा तथा प्रिय की लालसा स्वत: जाग्रत होगी, यह नियम है। तत्त्व-जिज्ञासा तत्त्व से और प्रिय-लालसा प्रिय से अभिन्न करने में समर्थ हैं। हम अशुभ संकल्पों के त्याग एवं शुभ संकल्पों की पूर्ति निर्विकल्पता, जिज्ञासा तथा प्रियलालसा को जाग्रत करने में समर्थ हैं।

प्रियलालसा और जिज्ञासा की पूर्ति का सम्बन्ध हमारे वर्तमान जीवन से है। शुभ संकल्पों की पूर्ति के लिए भले ही काल अपेक्षित हो, पर अशुद्ध संकल्पों का त्याग और जिज्ञासा तथा लालसा की पूर्ति का सम्बन्ध तो हमारे वर्तमान जीवन से ही है। अत: यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि अशुद्ध संकल्पों के त्याग में और तत्त्व-जिज्ञासा की पूर्ति एवं प्रेम की प्राप्ति में प्रत्येक साधक सर्वदा स्वाधीन है।

(9)

आशा और निराशा किसकी?

वर्तमान जीवन का अध्ययन करने पर यह विदित होता है कि जिस परिवर्तनशील जीवन से हमें निराश होना चाहिए, उसकी हम आशा करते हैं। अर्थात् व्यक्तित्व के मोह को सुरक्षित रखना चाहते हैं और अनन्त नित्य जीवन से निराश होकर, उससे विमुख रहते हैं।

अत: जिससे निराश होना चाहिए, उसकी आशा करना और जिसकी नित-नव आशा रहनी चाहिए, उससे निराश होना हमारा अपना ही बनाया हुआ दोष है। इस दोष के कारण जो वर्तमान में प्राप्त हो सकता है, उसके लिए हम भविष्य की आशा करते हैं, अथवा उससे निराश होते हैं और जो निरन्तर हमसे दूर हो रहा है, उसको बनाए रखने के लिए हम वर्तमान में ही सतत प्रयत्नशील रहते हैं, अथवा उसकी नित-नव आशा रखते हैं।

परिवर्तनशील जीवन की आशा केवल मोह तथा आसक्ति ही प्रदान करती है और कुछ नहीं। क्या आसक्ति तथा मोह से हम चिर-शान्ति एवं स्थाई प्रसन्नता पा सकते हैं? कदापि नहीं। इस दृष्टि से मोह तथा आसक्ति का जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

अब विचार यह करना है कि मोह तथा आसक्ति की निवृत्ति कैसे हो? उसके लिए हमें सर्वप्रथम जिसकी आशा नहीं करनी चाहिए, उससे निराश होना होगा। परिवर्तनशील अनित्य जीवन की निराशा अनन्त नित्य जीवन की आशा जाग्रत करती है। ज्यों-ज्यों हम वर्तमान अनित्य जीवन से निराश होते जाते हैं; त्यों-त्यों हमें जीवन ही में मृत्यु का अनुभव होता जाता है, ज्यों-ज्यों जीवन ही में मृत्यु का अनुभव होता जाता है, त्यों-त्यों अनन्त नित्य-जीवन की नित-नव आशा सबल तथा स्थाई होती जाती है।

जिस काल में अनित्य जीवन से पूर्णतया निराश हो जाते हैं, उसी काल में हम सब ओर से विमुख होकर अपने ही में अनन्त नित्य जीवन का अनुभव कर अमर हो जाते हैं। इस दृष्टि से हमें मृत्यु से अमरत्व की ओर गतिशील करने में अनित्य जीवन से निराशा और नित्य-जीवन की नित-नव आशा ही समर्थ हैं।

हमें वर्तमान जीवन का निरीक्षण करते हुए इस बात पर विशेष ध्यान देना है कि जो अवस्था भूतकाल में थी, वह अब नहीं है और जो दशा वर्तमान में है, वह भविष्य में न रहेगी; यह जानते हुए भी प्राप्त परिस्थिति

को बनाए रखने का प्रयास और अप्राप्त परिस्थिति की चाह करना, क्या निरर्थक नहीं है? यह सभी को मान्य होगा कि निरर्थक प्रयास में केवल प्राप्त सामर्थ्य का अपव्यय ही होगा।

यह नियम है कि सामर्थ्य का अपव्यय ही असमर्थता का हेतु है। अतः सामर्थ्य का सदुपयोग करने के लिए हमें निरर्थक प्रयास से सर्वदा बचना चाहिए और सार्थक प्रयास के लिए तत्पर रहना चाहिए।

सार्थक प्रयास क्या है? अनित्य जीवन से निराश होकर अनन्त नित्य जीवन को वर्तमान में प्राप्त करने का प्रयत्न ही सार्थक प्रयास है। यद्यपि अनित्य जीवन की आशा में कोई लाभ नहीं और उससे निराश होने में कोई हानि नहीं, परन्तु हम प्रमादवश निराश होने से भयभीत हो जाते हैं और आशा करने में सुख का स्वप्न देखने लगते हैं, जिसकी पूर्ति कभी सम्भव ही नहीं है।

यह प्रश्न हमें वर्तमान में हल करना है कि अनित्य से निराश क्यों नहीं हो पाते और नित्य को प्राप्त क्यों नहीं कर पाते? इसका एकमात्र कारण है, प्राप्त विवेक का अनादर; क्योंकि अनित्य की आशा और अनन्त नित्य से निराशा अविवेकसिद्ध है। यद्यपि अनित्य सर्वदा उस अनन्त नित्य में ही निवास करता है, फिर भी उसकी आशा साधक को नित्य से विमुख रखती है। अथवा यों कहो कि अनित्य जीवन नित्य जीवन की ही लालसा है और कुछ नहीं।

यह नियम है कि लालसा में सत्ता उसी की होती है, जिसकी वह होती है। इस दृष्टि से नित्य जीवन की लालसा अनित्य को खाकर अनन्त नित्य से अभिन्न करने में समर्थ है। नित्य, अनित्य का प्रकाशक है, नाशक नहीं और नित्य की जिज्ञासा अनित्य को खाकर नित्य से अभिन्न कर सकती है।

इस दृष्टि से नित्य की जिज्ञासा नित्य से भी अधिक महत्त्व की वस्तु है। पर उसकी जागृति तभी सम्भव होगी, जब हमें जिससे निराश होना

चाहिए, उसकी आशा न करें और जिसकी आशा करनी चाहिए, उससे निराश न हों। ऐसा करते ही हम वर्तमान में ही सुगमतापूर्वक अनन्त नित्य-चिन्मय जीवन से अभिन्न हो सकते हैं और परिवर्तनशील जीवन का भी सदुपयोग कर सकते हैं।

(10)

'करने' का 'होने' में परिवर्तन

जीवन के निरीक्षण से हमें यह प्रकाश मिलता है कि करने की रुचि में ही जीने की आशा तथा पाने का लालच निहित है और जीने की आशा में ही मृत्यु का भय विद्यमान है, जो किसी को अभीष्ट नहीं है। मृत्यु के भय से रहित होने के लिए जीने की आशा का त्याग और जीने की आशा के त्याग के लिए अप्राप्त के लालच का त्याग और अप्राप्त के लालच के त्याग के लिए प्राप्त का सदुपयोग अनिवार्य है।

प्राप्त के सदुपयोग से ही करने की रुचि का अन्त होगा। करने की रुचि का अन्त होने पर ही कर्ता, कर्म के फल से मुक्त होकर अपने अभीष्ट लक्ष्य—अमरत्व को प्राप्त कर सकता है, जो वर्तमान जीवन की वस्तु है।

अब विचार यह करना है कि करने की रुचि का कारण क्या है? तो कहना होगा कि देहाभिमान ही एकमात्र करने की रुचि का हेतु है, जो अविवेकसिद्ध है। प्राप्त विवेक के अनादर का ही दूसरा नाम अविवेक है। इसके अतिरिक्त अविवेक की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

अत: विवेक का आदर करते ही अविवेक तथा उसका कार्य 'देहाभिमान' स्वत: गल जाएगा। देहाभिमान के गलते ही करने की रुचि सदा के लिए मिट जाएगी। करने की रुचि का अन्त होते ही, जो होना चाहिए, वह स्वत: होने लगेगा, जो वास्तव में साधन-तत्त्व है।

'करने' और 'होने' में अन्तर केवल यही है कि 'करना' श्रमसाध्य है, सीमित है और उसका परिवर्तन अनिवार्य है। 'होना' स्वाभाविक है, असीम है और नित्य है। 'करने' का परिणाम भोग, रोग तथा मृत्यु है और 'होने' का परिणाम योग तथा शाश्वत् जीवन है। 'करने' के अन्त में अरुचि तथा नीरसता स्वाभाविक है और 'होने' में नित-नव उत्कण्ठा तथा सरसता है। करने में अभिमान की वृद्धि और होने में निरभिमानता स्वत: सिद्ध है। करना मृत्यु की ओर और होना अमरत्व की ओर ले जाता है। करना जड़ता में आबद्ध करता है और होना चिन्मय जीवन में प्रवेश कराता है। करने में स्वार्थभाव की वृद्धि होती है और होने में सेवाभाव सहज ही आ जाता है।

'करने' में मोह तथा क्रोध और 'होने' में प्रेम और क्षमा स्वत: सिद्ध है; कारण, कि समस्त दिव्य गुणों का विकास 'होने' में है, 'करने' में नहीं। 'करने' की रुचि का अन्त होते ही 'होने' के साम्राज्य में प्रवेश होता है।

अब विचार यह करना है कि करने की रुचि का अन्त कैसे हो? करने की रुचि का अन्त करने के लिए हमें यह जानना होगा कि करने का उपयोग क्या है?

'करने' का उपयोग है, विद्यमान राग की निवृत्ति तथा दूसरों के अधिकार की रक्षा में। अथवा यों कहो कि करने की रुचि का अन्त दूसरों के अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार के त्याग में निहित है; कारण, कि दूसरों के अधिकार की रक्षा से विद्यमान राग की निवृत्ति होगी और अपने अधिकार के त्याग से नवीन राग की उत्पत्ति न होगी। राग-रहित होते ही 'करना', 'होने' में बदल जाएगा, जो वास्तविक साधन है।

अब इस समस्या को हल करना है कि दूसरों के अधिकार की रक्षा एवं अपने अधिकार का त्याग किस विचार से, किस भाव से और किस प्रकार से करना चाहिए? हमें किसी से कुछ भी लेना नहीं है, इस विचार से तो अपने अधिकार का त्याग हो सकता है; कारण, कि लेने की भावना नवीन राग तथा अधिकार-लालसा में आबद्ध करती है, जो असाधन है।

अधिकार-लालसा का त्याग होते ही प्रत्येक प्रवृत्ति निर्मोहता एवं निर्लोभतापूर्वक प्रभु के नाते, विश्व के नाते अथवा सर्वात्मभाव के नाते स्वत: होने लगती है; जिसके होने से कर्ता अपने अभीष्ट भाव में विलीन हो जाता है। क्योंकि प्रवृत्ति जिस भाव से आरम्भ होती है, कर्ता, प्रवृत्ति के अन्त में उसी भाव में विलीन होता है। यह तीनों भाव रसरूप हैं और लक्ष्य से अभिन्न करने में समर्थ हैं।

अत: हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति कार्य-कुशलता, भाव की पवित्रता तथा लक्ष्य पर दृष्टि रखकर ही होनी चाहिए, तभी सहज-निवृत्ति एवं रागरहित जीवन प्राप्त होगा। रागरहित होते ही कामनाओं का अन्त एवं नि:सन्देहता तथा प्रेम की प्राप्ति होगी, जो वास्तविक जीवन है।

वे सभी प्रवृत्तियाँ त्याज्य हैं, जिनमें सभी का हित, प्रभु की प्रसन्नता एवं सर्वात्मभाव निहित न हो। सभी के हित में अपना हित और प्रभु की प्रसन्नता में ही अपनी प्रसन्नता स्वत: सिद्ध है। अत: अपने हित और अपनी प्रसन्नता के लिए सभी का हित और प्रभु की प्रसन्नता ही मुख्य साधन है।

भौतिकवाद की पराकाष्ठा सर्वहितकारी सद्भाव में, अध्यात्मवाद की पराकाष्ठा सर्वात्मभाव में और विश्वास की पराकाष्ठा प्रभु की प्रसन्नता में निहित है। इन सभी की एकता में ही वास्तविक जीवन है। उसकी प्राप्ति होने पर ही करने की रुचि, पाने का लालच, जीने की आशा और मृत्यु का भय नहीं रहता।

(11)

गुणों के अभिमान का त्याग

वर्तमान जीवन का निरीक्षण करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि अनित्य जीवन से निराशा ही हमें नित्य-जीवन से अभिन्न कर सकती है।

दो प्रकार के प्राणी ही अनित्य जीवन से निराश होते हैं—एक तो वे, जिन्होंने कर्त्तव्यनिष्ठ होकर सभी के अधिकारों की रक्षा की है और अपने अधिकारों का त्याग किया है। ऐसे महापुरुषों को अनित्य जीवन अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाता। दूसरे वे निर्बल प्राणी, अनित्य जीवन से निराश होते हैं, जिन्हें संसार ने ठुकरा दिया है अर्थात् जिनमें कोई ऐसा गुण नहीं रह गया, जिसकी आवश्यकता संसार को हो। इन दोनों प्राणियों में अन्तर केवल इतना होता है कि बेचारा निर्बल प्राणी संसार की आशा करता है, पर संसार उसे स्थान नहीं देता और कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणी की संसार आशा करता है, पर वह संसार को अपनी पूर्ति का हेतु नहीं मानता।

जिस प्रकार छाया के पीछे दौड़ने वाला छाया को नहीं पकड़ पाता और जो छाया से विमुख हो जाता है, उसे भी छाया नहीं पकड़ पाती; उसी प्रकार संसार को चाहने वाला भी संसार को नहीं पकड़ पाता और जो संसार से विमुख हो जाता है, उसे संसार भी नहीं पकड़ पाता। स्वरूप से दोनों ही संसार से अलग हैं, पर एक ही चाह में संसार है और दूसरे की संसार को चाह है।

यदि बेचारा पतित प्राणी भी यह जानकर कि संसार तो मुझे अपना ही नहीं सकता, संसार से निराश हो जाए और जीवन ही में मृत्यु का अनुभव कर डाले, तो वह भी उस अनन्त पर निर्भर होकर संसार से विमुख हो सकता है। संसार से विमुख होते ही वह भी उसी स्थिति में आ जाता है, जिस स्थिति में बड़े से बड़ा महापुरुष आता है अथवा यों कहो कि उसे भी संसार की चाह नहीं रहती। संसार की चाह से रहित होते ही पतित और पवित्र, तुच्छ और महान्, निर्बल और सबल सब समान हो जाते हैं।

जो गुणों का अभिमानी है, परदोषदर्शी है, वह कभी भी अनित्य जीवन से निराश नहीं हो सकता; कारण, कि गुणों का अभिमान देहाभिमान को गलने नहीं देता और परदोषदर्शन गुणों के अभिमान को पुष्ट करता

रहता है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि पश्चाताप करने वाला पतित अनित्य जीवन से निराश हो सकता है, पर गुणों का अभिमानी और परदोषदर्शी कभी भी अनित्य जीवन से निराश नहीं हो सकता।

यह नियम है कि अनित्य जीवन से निराश होते ही नित्य-जीवन की उत्कट लालसा जाग्रत होती है, जो नित्य-जीवन से अभिन्न करने में समर्थ है; कारण, कि अनन्त नित्य-जीवन की उत्कट लालसा अनित्य जीवन की इच्छाओं को खा लेती है।

जिस प्रकार औषधि रोग को खाकर स्वयं आरोग्य से अभिन्न हो जाती है, उसी प्रकार अनन्त नित्य-जीवन की उत्कट लालसा भोगेच्छाओं को खाकर अनन्त नित्य-चिन्मय जीवन से अभिन्न हो जाती है।

अनित्य जीवन से निराश हो जाना तथा अनन्त नित्य-चिन्मय जीवन से नित्य-सम्बन्ध स्वीकार करना ही प्राणी का परम पुरुषार्थ है, जिसके करने में कोई भी परतन्त्र नहीं है; क्योंकि सम्बन्ध तोड़ने और जोड़ने की स्वाधीनता सभी को प्राप्त है। किसी वस्तु के प्राप्त होने पर भी उससे सम्बन्ध तोड़ा जा सकता है और किसी की अप्राप्ति में भी सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। सम्बन्ध तोड़ने में विमुखता और सम्बन्ध जोड़ने में सम्मुखता अपेक्षित है।

यह नियम है कि किसी की विमुखता किसी की सम्मुखता में स्वतः बदल जाती है। अतः सम्बन्ध तोड़ने में ही सम्बन्ध जोड़ने की सामर्थ्य निहित है। अनित्य जीवन से निराश होते ही किसी प्रकार का राग-द्वेष शेष नहीं रहता। राग-द्वेष-रहित होते ही त्याग और प्रेम स्वतः आ जाता है। त्याग से चिर-शान्ति तथा अमर जीवन और प्रेम से अगाध अनन्त रस स्वतः प्राप्त होता है।

निर्दोषता दो ही अवस्थाओं में प्राप्त हो सकती है—प्राप्त बल का सदुपयोग तथा विवेक का आदर करने पर अथवा निर्बल होकर निर्भर होने

पर। निर्बल वही है, जो कुछ नहीं कर सकता। जो कुछ नहीं कर सकता, उससे कोई बुराई भी नहीं हो सकती; क्योंकि बुराई करने के लिए भी बल अपेक्षित है।

इस दृष्टि से बल का दुरुपयोग तथा विवेक का अनादर करना ही दोष का हेतु है, निर्बलता नहीं। इतना ही नहीं, अपनी निर्बलता का परिचय ही अनन्त की महिमा पर विश्वास कराने में समर्थ होता है। इस दृष्टि से अपनी निर्बलता का ज्ञान ही विकास का हेतु है।

गुणों का अभिमान उन्हीं प्राणियों में निवास करता है, जो निर्बल होने पर भी अपने को निर्बल नहीं मानते तथा किसी आंशिक गुण एवं परदोष-दर्शन के आधार पर अपने को गुणों के अभिमान में आबद्ध रखते हैं। यद्यपि गुणों का अभिमान सभी दोषों की भूमि है, परन्तु गुणों का अभिमानी इस रहस्य को जान नहीं पाता।

पर-दोषदर्शन करते हुए गुणों का अभिमान गल नहीं सकता। अब यदि कोई यह कहे कि दोषी को दोषी क्यों न माना जाये? तो कहना होगा कि बेचारा दोषी दोष-काल में ही तो दोषी है, उसके पश्चात् वह दोषी कैसे हो सकता है! प्राकृतिक नियम के अनुसार यदि किए हुए दोष को न दोहराए, तो बड़े से बड़ा दोषी भी निर्दोष है; क्योंकि वर्तमान की निर्दोषता ही वास्तविक निर्दोषता है। भूतकाल के आधार पर तो कोई भी निर्दोष सिद्ध नहीं हो सकता। मानव कोटि का कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है, जो जन्मसिद्ध निर्दोष हो। सभी दोषों का मूल एकमात्र राग है और जन्म का हेतु भी राग है।

इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि किसी को जन्मसिद्ध निर्दोष मानना सम्भव नहीं है। निर्दोषता तो साधनयुक्त जीवन का फल है। साधन का सम्बन्ध वर्तमान से है, भूतकाल से नहीं। जिसे हमने दोषी माना है, वह यदि साधन द्वारा निर्दोष हो गया है, तो क्या उस निर्दोषी को दोषी मानना हमारा महान् दोष नहीं है?

अपने दोष के सम्बन्ध में तो स्पष्ट ज्ञान सभी को है, पर दूसरों के दोष के सम्बन्ध में किसी भी व्यक्ति को पूरा ज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि दोष प्राय: किसी के सामने तो किए नहीं जाते, दूसरों से सुनकर तथा अनुमान से ही किसी को दोषी मान लिया जाता है। सुनी हुई, देखी हुई और अनुमान की हुई बात में तथा वास्तविकता में बड़ा अन्तर होता है।

जैसा सुनते हैं, वैसा ही सत्य है, इसमें तो सन्देह है ही; पर कभी-कभी तो जैसा देखने में आता है, वह भी यथार्थ नहीं होता। तो फिर किसी की कोई बात सुनकर उसे वास्तव में दोषी मान लेना, कहाँ तक न्याय-संगत है ?

सच तो यह है कि परदोष-दर्शन का जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। इतना ही नहीं, बड़े से बड़ा दोषी निर्दोष हो सकता है, परन्तु परदोषदर्शी का निर्दोष होना असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य है; कारण, कि बेचारे दोषी के जीवन में तो अनेक प्रकार के भय, अनादर तथा कठिनाइयाँ आती हैं, जिनसे दुखी होकर दोषी दोष का त्याग कर सकता है; किन्तु परदोषदर्शी के जीवन में तो कोई कठिनाई नहीं आती, केवल मिथ्याभिमान की ही वृद्धि होती रहती है, जो सभी दोषों का हेतु है। इस दृष्टि से परदोषदर्शन दोष की अपेक्षा महान् दोष है।

परदोषदर्शन की भाँति अपने किए हुए दोषों का चिन्तन करते रहना और उनका त्याग न करना भी महान् दोष ही है। निर्दोष होने के लिए वर्तमान में ही प्रयत्नशील होना है। वह तभी सम्भव है, जब हम भूतकाल के दोषों का चिन्तन न करें, अपितु उनका त्याग करके जीवन में निर्दोषता की स्थापना करें।

अब यदि कोई यह कहे कि हम किए हुए दोषों के त्याग में और निर्दोषता की स्थापना में अपने को असमर्थ पाते हैं। तो कहना होगा कि असमर्थता की वेदना किसी समर्थ पर निर्भर होने की सामर्थ्य प्रदान करती है, अथवा स्वत: आवश्यक शक्ति का विकास करती है; क्योंकि वर्तमान की वेदना ही भविष्य की सफलता होती है।

इस दृष्टि से हमें निर्दोष होने से निराश नहीं होना चाहिए; कारण, कि निर्दोषता से हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता है और दोषों से केवल मानी हुई एकता है; क्योंकि दोष आते-जाते रहते हैं, स्थाई रूप से नहीं रहते। दोष के न दोहराने पर सभी निर्दोष होते हैं। दोषों की वृद्धि दोषों के दोहराने पर निर्भर है। यदि दोषों को न दोहराया जाए, तो सभी दोष स्वत: मिट जाते हैं। अनित्य जीवन से निराश होने पर दोषों को न दोहराने की सामर्थ्य स्वत: आ जाती है। अत: हमें वर्तमान में ही अनित्य जीवन से निराश हो जाना चाहिए।

(12)

अनित्य जीवन से निराशा

अनित्य जीवन की निराशा के समान न तो कोई विवेक है, न कोई त्याग है, न कोई प्रायश्चित है और न कोई तप है; कारण, कि अनित्य जीवन से निराश होते ही स्थूल, सूक्ष्म और कारण, तीनों शरीरों से स्वत: सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है जिसके होते ही जीवन ही में मृत्यु का अनुभव और अमरत्व की प्राप्ति हो जाती है।

जिस प्रकार मृत्यु का दण्ड पाने वाले व्यक्ति को किसी अन्य अपराध का फल नहीं भोगना पड़ता, उसी प्रकार अनित्य जीवन से निराश होने वाले साधक को किसी भी कर्म का फल नहीं भोगना पड़ता, कारण, कि कर्म के संस्कार जिस भूमि में विद्यमान रहते हैं, वह भूमि ही सदा के लिए मिट जाती है। जिस प्रकार भूमिरहित बीज उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार अहं-भावरूपी भूमि के बिना कर्म-संस्कार फलित नहीं होते।

अत: यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि अनित्य जीवन से निराश होना ही महान् साधन है, जो सभी निर्बलताओं को खाकर अनन्त-नित्य-चिन्मय जीवन से अभिन्न करने में समर्थ है।

सभी साधनों का समावेश अनित्य जीवन की निराशा में निहित है; क्योंकि किसी भी साधन का जो फल हो सकता है, वह तो होता ही है; पर अनित्य जीवन की निराशा से जो फल होता है वह किसी अन्य साधन से नहीं हो सकता।

जैसे, तप से शक्ति और पुण्य से उत्कृष्ट भोगों की प्राप्ति हो सकती है, पर न तो अमरत्व मिल सकता है, न परम प्रेम प्राप्त हो सकता है और न चिर-शान्ति तथा स्थाई प्रसन्नता ही मिल सकती है, जो अनित्य जीवन से निराश होने पर स्वत: प्राप्त होती है।

अब यदि कोई यह कहे कि अनित्य जीवन से निराश होने पर हमारा भौतिक जीवन छिन्न-भिन्न हो जाएगा। तो कहना होगा कि ऐसी बात नहीं है। अनित्य-जीवन से निराश होने पर नित्य जीवन की प्राप्ति तो हो ही जाती है, पर अनित्य जीवन में भी सौन्दर्य आ जाता है; कारण, कि नित्य जीवन का प्रकाश अनित्य जीवन को स्वत: सुन्दर बना देता है, अर्थात् उसमें दिव्य गुणों का प्रादुर्भाव होने लगता है।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि अनित्य जीवन से निराश होने के लिए हमें क्या करना चाहिए? इसका समाधान यही हो सकता है कि जब हम निज-विवेक के द्वारा क्षण-भंगुर शरीर से निराश हो जाते हैं, तब समस्त अनित्य जीवन से निराश होने की सामर्थ्य स्वत: आ जाती है; कारण, कि शरीर का अविश्वास शरीर से अतीत के जीवन पर विश्वास कराने में समर्थ है।

अनित्य-जीवन की निराशा स्वार्थभाव को खाकर विश्व-प्रेम, देहाभिमान को खाकर अपने में ही सन्तुष्ट होने की सामर्थ्य तथा अहं और मम को मिटाकर प्रभु-प्रेम प्रदान करती है। इस दृष्टि से अनित्य-जीवन की निराशा में ही जीवन की पूर्णता निहित है।

अनित्य-जीवन की निराशा का अर्थ अनित्य-जीवन से घृणा करना नहीं है, अपितु त्यागे हुए मल की भाँति उससे विमुख होना है। जिस प्रकार

त्यागा हुआ मल खाद बनकर खाद्य पदार्थों को उत्पन्न करने में समर्थ है, उसी प्रकार अनित्य-जीवन की निराशा समस्त विश्व की सेवा बनकर उसे हरा-भरा बनाने में समर्थ है और वह साधक को अमर भी कर देती है।

अनित्य-जीवन की निराशा वर्तमान से सम्बन्ध रखती है; उसके लिए भविष्य की आशा करना भूल है। निज-विवेक का आदर करने पर अनित्य-जीवन से निराश होने की सामर्थ्य स्वत: आ जाती है। अत: हमें अनित्य-जीवन से निराश होकर वर्तमान में ही जीवन की पूर्णता प्राप्त कर लेनी चाहिए।

(13)

कामना-निवृत्ति

जीवन का निरीक्षण करने पर जीवन के दो भाग दिखाई देते हैं—एक तो वह, जिसे हम कामना-पूर्ति के नाम से कहते हैं, जिसके लिए शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि आदि तथा अनेकों बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा होती है और दूसरा वह, जिसे हम जिज्ञासा-पूर्ति तथा प्रेम-प्राप्ति के नाम से कहते हैं। उनकी पूर्ति के लिए बाह्य वस्तुओं की तो कौन कहे; शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि आदि की भी अपेक्षा नहीं होती है क्योंकि सभी वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों से विमुख होने पर ही जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम की प्राप्ति हो सकती है।

अब विचार यह करना है कि क्या हम कामना-पूर्ति के जीवन को चाहते हैं अथवा जिज्ञासा-पूर्ति एवं प्रेम-प्राप्ति के जीवन को अथवा दोनों को चाहते हैं? इसका निर्णय करने के लिए हमें दोनों प्रकार के जीवन के स्वरूप का अध्ययन करना होगा। कामना-पूर्ति के जीवन में प्रवृत्ति है, परन्तु प्राप्ति कुछ नहीं; कारण, कि अनेक बार कामनाओं की पूर्ति होने पर भी अभाव का अभाव नहीं होता, अपितु जड़ता, परतन्त्रता एवं शक्तिहीनता

में ही आबद्ध होना पड़ता है, जो स्वभाव से ही प्रिय नहीं है। इतना ही नहीं, कामना-पूर्ति का जीवन ही हमें जन्म और मृत्यु की ओर गतिशील करता है।

कामना-पूर्ति के जीवन में श्रम है, विश्राम नहीं; गति है, स्थिरता नहीं; भोग है, योग नहीं; अशान्ति है, चिर-शान्ति नहीं और जिज्ञासा-पूर्ति एवं प्रेम-प्राप्ति के जीवन में नित्य-योग है, चिरशान्ति है, अमरत्व है और अगाध अनन्त रस है, जो सभी को स्वभाव से ही प्रिय है।

अब यदि कोई कहे कि हम दोनों प्रकार का जीवन चाहते हैं। तो कहना होगा कि यदि कामना-पूर्ति भी कामना-निवृत्ति के लिए ही अपेक्षित है, कामना-पूर्ति के सुख-भोग के लिए नहीं, तो जीवन के दोनों भागों का समावेश एक ही जीवन में हो जाता है; परन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है, जब कामना-पूर्ति की सुख-लोलुपता का त्याग कर दिया जाए और कामना-निवृत्ति के लिए ही कामना-पूर्ति का उपयोग किया जाए।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या जिज्ञासा-पूर्ति तथा प्रेम-प्राप्ति का जीवन हम साधारण व्यक्तियों को सुलभ है? इस समस्या पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिसकी लालसा किसी प्रकार मिटाई नहीं जा सकती, उसकी पूर्ति अनिवार्य है।

कामनाओं की निवृत्ति हो सकती है, पर निस्सन्देहता तथा प्रेम-प्राप्ति की लालसा मिटाई नहीं जा सकती अर्थात् निवृत्त नहीं हो सकती; अतः उसकी पूर्ति अनिवार्य है। इसलिए ऐसे जीवन से हमें निराश नहीं होना चाहिए अर्थात् हम सभी को प्रेम की प्राप्ति तथा हमारी जिज्ञासा की पूर्ति हो सकती है; कारण, कि कामनाओं की निवृत्ति में जिज्ञासा की पूर्ति और जिज्ञासा की पूर्ति में प्रेम की प्राप्ति निहित है।

कामनाओं की उत्पत्ति अविवेकसिद्ध है, इसलिए वह विवेकपूर्वक मिटाई जा सकती है। परतन्त्रता तो केवल कामना-पूर्ति में है, निवृत्ति में

नहीं; क्योंकि कामना-पूर्ति के लिए परिस्थिति विशेष की अपेक्षा होती है, जो सबके लिए सर्वदा सम्भव नहीं है। इसी कारण कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि हमारी सभी कामनाएँ पूरी हो गईं। इसका अर्थ यह नहीं है कि किसी भी कामना की पूर्ति नहीं होती।

हाँ, यह अवश्य है कि कामना-पूर्ति का सुख कामना-उत्पत्ति का हेतु बन जाता है। इस दृष्टि से कामना-पूर्ति भी कामना-उत्पत्ति के ही समान है। अत: कामना-पूर्ति का प्रयास अन्त में निरर्थक ही सिद्ध होता है।

अब विचार यह करना है कि कामना-पूर्ति का जीवन में क्या स्थान है? तो कहना होगा कि जिस राग को साधक विचार से न मिटा सके, उसकी वास्तविकता को जानने के लिए उसे विधान के अनुरूप कामना-पूर्ति में प्रवृत्त होना चाहिए। इसके अतिरिक्त कामना-पूर्ति का जीवन में और कोई स्थान नहीं है।

सारांश यह निकला कि कामना-पूर्ति भी कामना-निवृत्ति के लिए ही अपेक्षित है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जिज्ञासापूर्ति एवं प्रेम की प्राप्ति ही वास्तविक जीवन है।

जिज्ञासापूर्ति एवं प्रेम-प्राप्ति वर्तमान जीवन की वस्तु है। उससे निराश होना भूल है। यह विश्वास ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थाई होता जाता है, त्यों-त्यों जिज्ञासापूर्ति एवं प्रेम प्राप्ति की सामर्थ्य स्वत: आने लगती है।

शरीर, मन, इन्द्रिय आदि का व्यापार जब निज-ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित होने लगता है, तब राग, वैराग्य में और भोग, योग में बदल जाता है जो कामना-निवृत्ति का हेतु है। कामनाओं की निवृत्ति में ही जिज्ञासा की पूर्ति निहित है और जिज्ञासा-पूर्ति में ही प्रेम की प्राप्ति विद्यमान है। यही वास्तविक जीवन है।

(14)

नित्य-जीवन का अनित्य-जीवन पर प्रभाव

वर्तमान दशा का अध्ययन करने पर यह प्रश्न स्वत: उत्पन्न होता है कि अनित्य-जीवन से सम्बन्ध-विच्छेद होने पर जिस दिव्य-जीव्न की प्राप्ति होती है, क्या उसका प्रभाव अनित्य-जीवन पर नहीं होता ?

विचार करने पर मालूम होता है कि अनित्य-जीवन की ओर गतिशील होने पर विवेक भाव में, भाव कर्म में और कर्म परिस्थिति में बदल जाता है एवं नित्य-जीवन की ओर गतिशील होने पर कर्म भाव में, भाव विवेक में और विवेक नित्य-जीवन में विलीन हो जाता है।

अनित्य-जीवन से सम्बन्ध-विच्छेद होने पर नित्य-जीवन से अभिन्नता तो हो ही जाती है, साथ-साथ अनित्य-जीवन में भी दिव्य-जीवन का प्रभाव स्वत: होने लगता है अर्थात् भाव और विवेक—ये दोनों जीवन में मूर्तिमान होकर प्रदर्शित होने लगते हैं।

जिस प्रकार चित्रकार अपने भाव को चित्र द्वारा प्रकाशित करता है, उसी प्रकार दिव्य-जीवन की दिव्यता बाह्य जीवन से स्वत: प्रकाशित होने लगती है।

अनित्य-जीवन में आकृति से भाव की उत्पत्ति होती है और दिव्य-जीवन में भाव से आकृति की उत्पत्ति होती है अर्थात् आन्तरिक जीवन ही मूर्तिमान् हो जाता है। इतना ही नहीं, ज्यों-ज्यों दिव्यता, जीवन बनती जाती है, त्यों-त्यों जड़ता, चिन्मयता में परिवर्तित होती जाती है। पर इस रहस्य को कोई विरले ही जानते हैं।

अनित्य और नित्य-जीवन के मध्य में अहंभाव-रूपी अणु ही एक ऐसा आवरण है, जो दिव्य-जीवन की दिव्यता को इस भौतिक जीवन में अवतरित नहीं होने देता। यदि विवेकपूर्वक आत्मसमर्पण द्वारा अहंभावरूपी अणु का अन्त कर दिया जाए, तो उस अनन्त की कृपा-शक्ति स्वत: बाह्य

जीवन को दिव्य बनाने लगती है, अर्थात् आन्तरिक जीवन का दर्शन बाह्य जीवन में होने लगता है।

अहंभावरूपी अणु के टूटते ही निर्वासना आ जाती है। वासनाओं का अन्त होते ही निर्वैरता, निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुण स्वत: उत्पन्न होते हैं और उनका प्रभाव समस्त विश्व पर होने लगता है। पर उसकी अनुभूति उन्हीं साधकों को होती है, जिन्होंने नित्य-जीवन से सम्बन्ध स्वीकार कर लिया है।

आज जिन दिव्य गुणों का प्रचार हम व्याख्यान, लेख आदि बाह्य उपचारों के द्वारा करना चाहते हैं; अथवा वैधानिक रूप से दोषों को बलपूर्वक मिटाना चाहते हैं, तथापि सफलता का दर्शन नहीं होता, उसका एकमात्र कारण यही है कि हम अपने अन्तर्मुख जीवन द्वारा दिव्यता को विभु नहीं बनाते।

बाह्य उपचारों के द्वारा प्रचार करना वैसा ही है, जिस प्रकार कुएँ से जल खींचकर भूमि को सींचने का प्रयास और अन्तर्मुख दिव्य-जीवन द्वारा प्रचार उसी प्रकार है, जिस प्रकार बादल बनकर वर्षा द्वारा भूमि को हरा-भरा बना देना।

यह नियम है कि जो वस्तु जितनी स्थूल होती है उतनी ही सीमित होती है और जो वस्तु जितनी सूक्ष्म होती है, उतनी ही विभु होती है। इस दृष्टि से कर्मेन्द्रियों की अपेक्षा ज्ञानेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियों की अपेक्षा प्राण एवं मन, मन की अपेक्षा बुद्धि और बुद्धि की अपेक्षा जो बुद्धि से परे है, वह विभु है।

अनित्य-जीवन से सम्बन्ध-विच्छेद होने पर इन्द्रियाँ विषयों से विमुख होकर मन में विलीन हो जाती हैं और मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन हो जाता है। तदनन्तर बुद्धि सम होकर साधक का उस चिन्मय

जीवन में प्रवेश हो जाता है, जो अनन्त है अथवा यों कहो कि विवेक का प्रकाश बुद्धि को और बुद्धि का प्रकाश मन को दिव्य बनाता है। मन की दिव्यता इन्द्रियों को दिव्य बनाती है और इन्द्रियों की दिव्यता परिस्थिति में सौन्दर्य उत्पन्न करती है, क्योंकि जहाँ कहीं जो सौन्दर्य है, वह अनन्त की ही अभिव्यक्ति है।

अत: हमें दिव्य-जीवन से अभिन्न होकर ही बाह्य जीवन में दिव्यता की अभिव्यक्ति करनी चाहिए। यह तभी सम्भव है, जब हम देहाभिमान के त्यागपूर्वक अन्तर्मुख होकर मूक सेवा को अपनाएँ। जिस प्रकार स्थिर भूमि में ही अनेक पौधे उपजते हैं और अचल हिमालय से ही अनेक नदियाँ निकलती हैं, जो भूमि को हरा-भरा बनाने में समर्थ हैं, उसी प्रकार मूक सेवा से ही विश्व में दिव्यता का प्रसार होता है।

यद्यपि 'मूक-सेवा' इन्द्रियजन्य ज्ञान से देखी नहीं जा सकती, परन्तु विभु होकर सभी को सब कुछ प्रदान करती है, अर्थात् उसी के द्वारा बाह्य सेवा भी सजीव तथा सार्थक होती है। पर इस रहस्य को तत्त्वदर्शी महापुरुष ही जानते हैं। इस दृष्टि से मूक-सेवा बाह्य सेवा की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व की वस्तु है। पर वह सेवा उन्हीं साधकों के द्वारा हो सकती है, जो उत्तरोत्तर शान्ति की ओर गतिशील होते जाते हैं।

शान्ति की ओर गतिशील होने के लिए हमें अचाह, अप्रयत्न एवं अभिन्नता को ही अपनाना होगा। अचाह से दोषों की निवृत्ति हो जाएगी, अप्रयत्न से 'अहम्' टूट जाएगा और अभिन्नता से दिव्य चिन्मय प्रेम की प्राप्ति होगी, जो सब प्रकार के भेद का अन्त करने में समर्थ है। भेद का अन्त होते ही सब प्रकार के संघर्ष स्वत: मिट जाते हैं और उस अनन्त, नित्य, चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है, जिसकी कृपाशक्ति समस्त विश्व को दिव्य बनाने में समर्थ है।

(15)

माने हुए सम्बन्ध की निवृत्ति और नित्य सम्बन्ध की प्राप्ति

जीवन के निरीक्षण में यह स्पष्ट विदित होता है कि शरीर आदि जो वस्तुएँ प्राप्त हैं, उनसे हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं है। जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं है, उससे नित्य सम्बन्ध स्वीकार करना अस्वाभाविकता है।

जब वह अस्वाभाविकता, स्वाभाविकता का स्थान पा जाती है, तब अनेक अस्वाभाविक इच्छाएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जो देखने में स्वाभाविक-सी प्रतीत होती हैं, पर स्वाभाविक लालसा की पूर्ति में सर्वदा असमर्थ ही रहती हैं। जैसे, मृत्यु के भय से मुक्त होने की लालसा, सन्देह-रहित होने की रुचि एवं अगाध अनन्त रस पाने की माँग को अस्वाभाविक इच्छाएँ न तो मिटा ही पाती हैं और न पूरा ही कर पाती हैं।

अब विचार यह करना है कि अस्वाभाविक इच्छाओं का स्वरूप क्या है? तो कहना होगा कि संयोग-जनित सुख-भोग और अप्राप्त वस्तु, अवस्था आदि की रुचि को ही अस्वाभाविक इच्छाएँ कहते हैं।

संयोगजनित सुख का भोग वियोग का भय उत्पन्न करता है और अप्राप्त परिस्थिति की रुचि दीनता, परतन्त्रता तथा व्यर्थ-चिन्तन में आबद्ध करती है, जो किसी को भी अभीष्ट नहीं है।

स्वाभाविक लालसा और अस्वाभाविक इच्छाओं के स्वरूप को जानकर स्वाभाविक लालसा की पूर्ति और अस्वाभाविक इच्छाओं की निवृत्ति हमें वर्तमान में ही कर लेनी चाहिए; और इसके लिए जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं है, उससे वर्तमान में ही सम्बन्ध-विच्छेद कर लेना चाहिए। यद्यपि सम्बन्ध-विच्छेद कर लेने पर भी सम्बन्धजनित जो

कार्य उत्पन्न हो गया है, वह कुछ काल तो रहेगा ही; परन्तु वह अपने आप मिट जाएगा, उसके लिए कोई प्रयत्न अपेक्षित नहीं है।

यह नियम है कि कारण का नाश होने पर भी उसका कार्य कुछ काल रहता ही है, जो समय पाकर अपने-आप मिट जाता है। जिस प्रकार हरे-भरे वृक्ष का मूल काट देने पर भी वह ऊपर से कुछ काल हरा-भरा ही दिखाई देता है, पर कुछ काल में स्वयं ही सूख जाता है; उसी प्रकार माने हुए सम्बन्ध का त्याग हो जाने पर भी कुछ काल तक शरीर आदि का व्यापार स्वत: ही होता रहता है; पर उसके करने का अभिमान नहीं होता और न किसी प्रकार का राग ही अंकित होता है।

राग-रहित होते ही नित्य-योग, अनुराग एवं बोधरूपी सूर्य उदय होता है, जो स्वाभाविक लालसा की पूर्ति में समर्थ है। नित्य-योग से चिर-शान्ति, बोध से अमरत्व और अनुराग से अगाध-अनन्त रस की उपलब्धि होती है, जो सभी को अभीष्ट है।

जिससे केवल मानी हुई एकता है जातीय नहीं, उससे सम्बन्ध-विच्छेद करने में जो भय प्रतीत होता है, उसका एकमात्र कारण यह है कि हमें विश्वास नहीं रहा है कि वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों से अतीत भी जीवन है। यद्यपि निज-विवेक का प्रकाश यह स्पष्ट कर देता है कि वस्तु, अवस्था आदि के परिवर्तन होने पर भी उनका प्रकाशक ज्यों-का-त्यों है; परन्तु अवस्था आदि की आसक्ति एवं तद्रूपता भय उत्पन्न कर देती है, जो वास्तव में प्राप्त विवेक का अनादर ही है। साधक के जीवन में विवेक के अनादर का कोई स्थान ही नहीं है, क्योंकि विवेकयुक्त जीवन का नाम ही साधनयुक्त जीवन है।

यह सभी को मान्य होगा कि प्राप्त परिस्थिति सतत बदल रही है और अप्राप्त परिस्थिति वर्तमान में विद्यमान नहीं है। अत: किसी भी परिस्थिति से नित्य-सम्बन्ध सम्भव नहीं है।

जो सम्भव नहीं है, उसकी आशा करना, उस पर विश्वास करना भूल ही है और कुछ नहीं। इसे वर्तमान में ही मिटा देना है। तभी हम प्राप्त परिस्थिति की आसक्ति से और अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन से रहित हो सकते हैं।

हमारा नित्य-योग उसी से हो सकता है, जो सर्वत्र और सर्वकाल में हो और जिसमें किसी प्रकार का अभाव न हो, अपितु जो सभी अभावों का अभाव करने में समर्थ हो। जो सर्वकाल में है, वह वर्तमान में भी है।

अत: नित्य-योग की प्राप्ति वर्तमान जीवन की वस्तु है। उसे भविष्य की आशा पर छोड़ना असावधानी है और कुछ नहीं। परिस्थितियों के वियोग में ही नित्य-योग की सामर्थ्य निहित है और परिस्थितियों के सदुपयोग में ही परिस्थितियों से असङ्ग होने की योग्यता विद्यमान है।

शरीर की वास्तविकता को जान लेने में समस्त विश्व का ज्ञान निहित है, क्योंकि शरीर और विश्व में जातीय एकता है। शरीर के आदि, मध्य और अन्त का ज्ञान हमें शरीर से अरुचि तथा असंगता प्रदान करने में समर्थ है। इतना ही नहीं, शरीर का राग मिटते ही सभी भोगों का राग स्वत: मिट जाता है और भोगों का राग मिटते ही नित्य-योग अपने आप हो जाता है। शरीर के राग के कारण ही हम उन वस्तुओं के पीछे दौड़ते हैं, जो हमारे बिना रह सकती हैं अथवा जिनके बिना हम रह सकते हैं।

हाँ, यह अवश्य है कि शरीर आदि प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग में कर्त्तव्य-बुद्धि से हमारा कुछ अधिकार है; पर उन्हें अपना मानने का लेशमात्र भी अधिकार नहीं है, क्योंकि शरीर आदि सभी वस्तुएँ उसी अनन्त की हैं, जिसके किसी एक अंश में समस्त विश्व विद्यमान है।

शरीर की ममता से रहित होकर शरीर की सेवा करने में शरीर का हित और अपना कल्याण है। शरीर की सेवा करते हुए इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए कि कहीं स्थूल शरीर के हित के लिए सूक्ष्म

शरीर को दोषयुक्त न बना लिया जाए; अर्थात् स्थूल शरीर को पुष्ट करने के लिए सूक्ष्म शरीर को हिंसक न बनाया जाए तथा स्थूल शरीर को आराम देने के लिए सूक्ष्म शरीर को बेईमान तथा संग्रही न बना दिया जाए; क्योंकि स्थूल शरीर की सेवा की अपेक्षा सूक्ष्म शरीर की सेवा अधिक महत्त्व की वस्तु है; कारण, कि स्थूल शरीर का सम्बन्ध तो वर्तमान जीवन तक ही है, परन्तु सूक्ष्म शरीर तो प्राणान्त के बाद भी साथ रहता है। इतना ही नहीं, सूक्ष्म शरीर के अनुरूप ही दूसरा जन्म होता है।

जन्म और मृत्यु एक ही जीवन के दो पहलू हैं; कारण, कि उत्पत्ति में ही विनाश और विनाश में ही उत्पत्ति निहित है। जब तक कारण शरीर का अन्त न हो जाए, तब तक जन्म और मृत्यु का प्रवाह सतत चलता ही रहता है।

कारण शरीर का अन्त करने के लिए सूक्ष्म शरीर को शुद्ध रखना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि राग-द्वेष रहित होने पर ही त्याग और प्रेम प्राप्त होता है। त्याग से अस्वाभाविक इच्छाओं की निवृत्ति और प्रेम से स्वाभाविक लालसा की पूर्ति स्वतः हो जाती है, जो वास्तविक जीवन है।

(16)

सहज निवृत्ति का सदुपयोग

वर्तमान दशा का अध्ययन करने पर हमें किसी न किसी प्रकार की चाह, प्रतीति, प्रवृत्ति और आसक्ति का ही दर्शन होता है। यद्यपि प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में सहज निवृत्ति भी स्वभाव से ही आती है, तथापि प्रवृत्तिजन्य सुख का भोग निवृत्ति-काल में भी किसी न किसी प्रकार की चाह और आसक्ति में ही आबद्ध रखता है। चाह और आसक्ति के रहते हुए हम सदैव प्रतीति की ओर ही गतिशील रहते हैं।

जिस प्रकार सूर्य से विमुख होकर छाया की ओर दौड़ने पर कोई भी अपनी छाया को पकड़ नहीं पाता, अर्थात् प्राप्त नहीं कर पाता, उसी प्रकार प्रतीति की ओर प्रवृत्ति होने पर प्रवृत्ति के अन्त में कुछ भी प्राप्त नहीं कर पाता। प्रवृत्ति का अन्त किसी न किसी प्रकार के अभाव को ही सिद्ध करता है।

जब प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप अभाव की वेदना सबल तथा स्थाई हो जाती है, तब प्रवृत्ति के अन्त में आने वाले सहज निवृत्तिकाल में किसी की मधुर स्मृति उत्पन्न होती है, चाहे उसका स्वरूप जिज्ञासा हो अथवा प्रिय की लालसा।

स्मृति उसी की होती है जिसकी जिज्ञासा हो और जिज्ञासा उसी की होती है जिसकी स्मृति हो; कारण, कि जिसको जानना चाहते हैं, उसको प्राप्त भी करना चाहते हैं और जिसको प्राप्त करना चाहते हैं, उसको जानना भी चाहते हैं।

मधुर स्मृति और जिज्ञासा उसी की हो सकती है, जो सर्वदा सर्वत्र विद्यमान हो, अर्थात् जिससे देश-काल की दूरी न हो और जो उत्पत्ति-विनाश आदि दोषों से रहित हो। जिसकी स्मृति होती है, उसी से प्रीति होती है और जिससे प्रीति होती है, उसी की प्राप्ति होती है। यह निर्विवाद सत्य है।

प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में आने वाली सहज निवृत्ति का सदुपयोग स्मृति, प्रीति और प्राप्ति कराने में समर्थ है और उसका दुरुपयोग चाह, आसक्ति तथा अभाव में आबद्ध करता है, जो किसी को अभीष्ट नहीं है।

अत: स्वभाव से आने वाली सहज निवृत्ति बड़े ही महत्त्व की वस्तु है। उसका सदुपयोग करने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए। वह तभी सम्भव होगा जब प्रवृत्ति की रुचि मधुर स्मृति के स्वरूप में बदल जाए; कारण, कि मधुर स्मृति प्रवृत्ति की चाह और आसक्ति को खाकर प्रीति जाग्रत करने में समर्थ है।

मधुर स्मृति कर्म तथा अभ्यास नहीं है, अपितु श्रम-रहित तथा स्वाभाविक है; इसी कारण अखण्ड और अनन्त भी है एवं सबके लिए साध्य भी है। अत: स्मृति से निराश होना भूल है।

प्रवृत्ति का राग तथा उसकी आसक्ति और चाह, स्मृति को ढक भले ही ले, पर उसे मिटा नहीं सकती; क्योंकि उसका नित्य सम्बन्ध अनन्त से है, किसी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति से नहीं। अनन्त की स्मृति भी अनन्त के समान ही दिव्य, चिन्मय तथा नित्य है; क्योंकि स्मृति में सत्ता उसी की होती है जिसकी वह है। जिस काल में स्मृति प्रिय से भिन्न की विस्मृति करा देती है, उसी काल में प्रिय से अभिन्न हो जाती है, अथवा यों कहो कि स्मृति अनन्त की प्रीति होकर अनन्त ही में निवास करती है।

इस दृष्टि से प्रिय की स्मृति ही जीवन और विस्मृति ही मृत्यु है। ज्यों-ज्यों प्रवृत्ति का राग मिटता जाता है, त्यों-त्यों स्मृति स्वत: सबल तथा स्थाई होती जाती है और राग का अन्त होते ही वह अनुराग को उद्दीप्त कर, उस अगाध अनन्त रस को प्रदान करती है, जो जीवन है। इतना ही नहीं वह जन्म-मृत्यु, संयोग-वियोग, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वों को विध्वंस करने में भी समर्थ है। अत: प्रियतम की स्मृति को जाग्रत करने के लिए हमें वर्तमान में ही अथक प्रयत्न करना चाहिए।

(17)

वर्तमान का सदुपयोग

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि वर्तमान कर्त्तव्यपालन ही सर्वोत्कृष्ट कार्य है; क्योंकि वर्तमान का सदुपयोग ही भविष्य को उज्ज्वल बनाता है और कार्य से असंग होने की सामर्थ्य भी प्रदान करता है।

सिद्धान्त रूप से प्रत्येक कर्त्तव्य कर्म के दो परिणाम होते हैं—एक तो कर्ता के विद्यमान राग की निवृत्ति और दूसरा उस कार्य से जिनका सम्बन्ध है, उनके अधिकार की रक्षा। कर्ता का राग निवृत्त होते ही कर्ता जिज्ञासु तथा प्रेमी होने में समर्थ होता है और जिनके अधिकार की रक्षा होती है, उनका भी हित होता है; अथवा यों कहो कि इससे बाह्य परिस्थिति भी सुन्दर हो जाती है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि वर्तमान कर्त्तव्य ही उत्कृष्ट कार्य है। अत: बड़ी ही सावधानीपूर्वक उसका सदुपयोग करना चाहिए।

वर्तमान का सदुपयोग तभी सम्भव होगा, जब कर्ता प्राप्त कार्य को सर्वोत्कृष्ट कार्य माने, विधान के अनुरूप कार्य का सम्पादन करे और अपने को उस कार्य में पूरा लगा दे। पर इस बात का सदैव ध्यान रहे कि यह नियम उन्हीं कार्यों के लिए है, जो करने के योग्य हैं। जिन कार्यों से दूसरों का अहित हो, वे किसी भी अवस्था में करने योग्य नहीं हैं। जो करने योग्य नहीं हैं, उन कार्यों का तो त्याग ही करना होगा।

यह नियम है कि अकरणीय कार्य के त्याग में ही करणीय कार्य को करने की सामर्थ्य निहित है। अत: जो करना चाहिए, उसके करने में लेशमात्र भी परतन्त्रता नहीं है।

जो करना चाहिए, उसके करने पर व्यर्थ-चेष्टाओं का अन्त हो जाएगा और कार्य के अन्त में निर्विकल्पता स्वत: आने लगेगी। निर्विकल्पता कल्पतरु के समान है। यह जिज्ञासु में जिज्ञासा और प्रेमी में प्रियलालसा जाग्रत करने में समर्थ है। इतना ही नहीं, चिर-शान्ति तथा नित्य-योग भी निर्विकल्पता से ही प्राप्त होता है। जिज्ञासा की पूर्णता उस तत्त्व ज्ञान में और प्रियलालसा उस प्रेम में बदल जाती है, जो वास्तव में जीवन है।

व्यर्थ-चेष्टाओं से ही व्यर्थ-चिन्तन उत्पन्न होता है और व्यर्थ-चिन्तन से ही परिस्थिति का दुरुपयोग होता है तथा निर्विकल्पता भंग होती है।

निर्विकल्पता भंग होने से विकास रुक जाता है और परिस्थिति के दुरुपयोग के कारण कर्ता के राग की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। इस दृष्टि से साधक के जीवन में व्यर्थ-चिन्तन तथा व्यर्थ-चेष्टाओं के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

परिस्थितियों के चिन्तन से रहित होने पर प्रिय की स्मृति तथा विचार का उदय स्वतः हो जाता है। प्रिय की स्मृति प्रिय से भिन्न की विस्मृति कराने में समर्थ है और विचार का उदय अविचार को नष्ट करता है। अविचार के नष्ट होते ही अविचार-सिद्ध सृष्टि स्वतः विलीन हो जाती है। प्रिय से भिन्न की विस्मृति प्रिय से अभिन्न करने में समर्थ है और प्रिय की अभिन्नता दिव्य चिन्मय प्रेम प्रदान करने में समर्थ है; कारण, कि प्रेम प्रेमास्पद का स्वभाव और प्रेमी का जीवन है।

कर्म-विज्ञान की दृष्टि से कर्म से भिन्नता अनिवार्य है, पर प्रत्येक कार्य के प्रति प्रियता समान होनी चाहिए। ऐसा करने से प्रत्येक कर्म एक ही भाव में विलीन हो जाएगा और कर्मजन्य आसक्ति उत्पन्न न होगी; कारण, कि आसक्ति का हेतु रस है, जिसकी पूर्ति प्रियता से स्वतः हो जाती है।

कार्य में प्रधानता विधान के अनुरूप कार्यकुशलता की होती है और प्रियता कर्ता में विद्यमान रहती है। समान प्रियता कर्ता को कर्म से असंग करने में समर्थ है, क्योंकि प्रियता का भेद ही कर्ता को कर्म में आबद्ध करता है। अतः प्रियता के भेद का अन्त करना अनिवार्य है। कर्म का भेद प्राकृतिक है और प्रियता का भेद कर्ता का अपना बनाया हुआ दोष है, जिसे मिटाने का दायित्व कर्ता पर ही है। कर्ता के सभी दोष उस समय स्वतः मिट जाते हैं, जब वह जिज्ञासु तथा प्रेमी हो जाता है।

प्रेमी तथा जिज्ञासु होने के लिए प्रत्येक कार्य को सुन्दरतापूर्वक करना चाहिए, क्योंकि कार्य की सुन्दरता कर्ता को स्वयं कार्य के चिन्तन से मुक्त कर देती है। कार्य के चिन्तन से मुक्त होते ही प्रिय लालसा अथवा तत्त्व-

जिज्ञासा स्वतः जाग्रत होती है, जो प्रेमी तथा जिज्ञासु बनाने में समर्थ है। इस दृष्टि से सुन्दरतापूर्वक कार्य करना ही कार्य के चिन्तन से मुक्त होने का सुगम उपाय है।

अब विचार यह करना है कि कार्य के चिन्तन का हेतु क्या है। तो कहना होगा कि परिस्थिति के अनुसार किए हुए कार्य का राग ही कार्य के चिन्तन का हेतु है। किये हुए कार्य का राग तभी अंकित होता है, जब कर्ता कार्य में ही जीवन-बुद्धि कर लेता है अथवा किए हुए कार्य का फल भोगना चाहता है अर्थात् सुख-भोग की आसक्ति ही कर्ता को परिस्थितियों में आबद्ध करती है।

परिस्थितियों में आबद्ध प्राणी अपने को कर्ता मान लेता है, जिज्ञासु तथा प्रेमी नहीं। कर्ता, कर्म और फल—यद्यपि इन तीनों में जातीय एकता है, परन्तु कर्ता फल की आशा के कारण कर्मजाल में आबद्ध होकर अपने को भोग के अधीन कर लेता है अर्थात् दीन हो जाता है।

यह नियम है कि दीनत्व के रहते हुए प्राणी कभी भी अभिमान से रहित नहीं हो पाता; कारण, कि दीनता किसी न किसी वस्तु, अवस्था आदि में आबद्ध कर देती है, जो अभिमान का हेतु है। दीनता और अभिमान का अन्त करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि कर्ता सुख-भोग की आशा को त्याग करके प्रत्येक कार्य राग-निवृत्ति के भाव से अथवा अपने प्रिय की प्रसन्नता के भाव से सम्पादित करने का स्वभाव बना ले।

यह नियम है कि जिस भाव से कार्य किया जाता है, कर्ता अन्त में उसी भाव में विलीन होता है, अर्थात् या तो वीतराग हो जाता है अथवा प्रेमी। वीतराग होते ही निरभिमानता आ जाती है और किसी प्रकार का दीनत्व शेष नहीं रहता है। दीनता और अभिमान के गलते ही समस्त जीवन प्रेम से परिपूर्ण हो जाता है अथवा यों कहो कि प्रेमी, प्रेम और प्रेमास्पद से भिन्न की सत्ता ही शेष नहीं रहती। जिस प्रकार कर्ता, कर्म और फल में जातीय एकता है, उसी प्रकार प्रेमी, प्रेम और प्रेमास्पद में भी जातीय एकता है।

देहाभिमान के कारण ही प्रेमी अपने को कर्ता मान लेता है। फिर प्रेम और प्रेमास्पद से वंचित होकर कर्म और कर्मफल में आबद्ध हो जाता है। यदि निर्मोहतापूर्वक देहाभिमान का त्याग कर दिया जाए, तो कर्ता स्वयं प्रेमी हो जाता है; उसके बाद प्रेम होकर प्रेमास्पद से अभिन्न होने में समर्थ होता है। इतना ही नहीं, प्रेमी होते ही प्रत्येक प्रवृत्ति में अपने प्रियतम का ही दर्शन होने लगता है और प्रवृत्ति के अन्त में प्रेमी प्रीति होकर प्रियतम से अभिन्न हो जाता है अर्थात् समस्त जीवन प्रीति की ही अभिव्यक्ति हो जाता है।

यह सभी को मान्य होगा कि प्रियतम प्रीति में ही विद्यमान है और प्रीति से ही उसकी अभिव्यक्ति होती है। अतः प्रीति की प्राप्ति के लिए हमें प्रत्येक कार्य सुन्दरतापूर्वक करना चाहिए।

(18)

आसक्ति और प्रीति

जीवन का निरीक्षण करने पर यह सभी को मान्य होगा कि आसक्ति और प्रीति में केवल इतना भेद है कि आसक्ति 'पर' से और प्रीति 'स्व' से होती है अथवा यों कहो कि प्रीति उसी से होती है, जो नित्य प्राप्त है और आसक्ति उसी से होती है, जिसका सतत वियोग है। नित्य प्राप्त से दूरी और जिसका सतत वियोग है, उसकी समीपता का दर्शन कराने में एकमात्र आसक्ति ही हेतु है। इतना ही नहीं, प्राप्त का अभाव और अप्राप्त का भाव, यह विपरीत ज्ञान भी आसक्ति से होता है।

अब यदि कोई यह कहे कि आसक्ति का आरम्भ कब से हुआ। तो कहना होगा कि उसके निश्चित काल का तो पता नहीं, पर आसक्ति मिटाई जा सकती है। इस आधार पर ही यह कह सकते हैं कि आसक्ति हो गई है, नित्य नहीं है। सब प्रकार की आसक्तियों का अन्त वर्तमान में हो सकता है।

आसक्तियों का अन्त होते ही नित्य-प्राप्त से नित्य-योग तथा प्रीति स्वत: हो जाएगी और फिर किसी प्रकार का बन्धन शेष नहीं रहेगा अर्थात् नित्य-योग में ही नित्य-जीवन की प्राप्ति और मृत्यु की मृत्यु है।

अब विचार यह करना है कि आसक्तियों का अन्त कैसे हो? वह तभी होगा, जब हम उन सबकी सेवा करें, जिनका वियोग हो रहा है। वियोग उन्हीं का हो रहा है, जिनसे संयोग है। संयोग-काल में ही वियोग का अनुभव करने से भी आसक्तियों का अन्त हो सकता है। संयोग-काल में वियोग का अनुभव करने के लिए हमें अपने में से उन सभी को पृथक् करना होगा, जिनको 'यह' के नाम से कहते हैं। 'यह' और 'मैं' का विभाजन होने पर निर्वासना आ जाती है, जिसके आते ही सभी आसक्तियों की जड़ स्वत: कट जाती है। 'यह' और 'मैं' का विभाजन होने पर 'मैं', 'है' की प्रीति अथवा 'है' का योग बन जाता है; कारण, कि बिना किसी आश्रय के 'मैं' का अस्तित्व स्वतन्त्र रूप से नहीं रह सकता।

अब यदि कोई यह कहे कि जिसको 'है' कहते हैं, उसको ही 'मैं' क्यों न कहा जाए? तो कहना होगा कि 'मैं' अनेक मान्यताओं के रूप में स्वीकार किया गया है और 'मैं' का अर्थ सीमित रूप में अनेक बार किया गया है, इस कारण 'है' को 'मैं' कहने में प्रमाद हो सकता है। हाँ, यह और बात है कि यदि किसी को 'मैं' के प्रति इतनी ममता हो जाए कि उसको किसी न किसी रूप से जीवित ही रखना है, तो भले ही 'है' को 'मैं' के नाम से कह दिया जाए।

वास्तव में तो 'मैं', 'है' की प्रीति है, और कुछ नहीं। यद्यपि प्रीति में सत्ता उसी की होती है, जिसकी वह है। इस दृष्टि से 'मैं', 'है' की ही अभिव्यक्ति है।

नित्य-प्राप्त की प्राप्ति में ही जीवन है और उसकी विमुखता में ही मृत्यु है। नित्य-प्राप्त से विमुखता ही दृश्य से संयोग कराती है। संयोग

का ही वियोग होता है, प्राप्त का नहीं। इतना ही नहीं, प्रतीति भी संयोग की ही होती है, प्राप्त की नहीं। प्राप्त से तो अभिन्नता हो सकती है, उसकी प्रतीति नहीं। पर इस रहस्य को वे ही जान सकते हैं, जिन्होंने जीवन का अध्ययन किया है; क्योंकि जीवन के अध्ययन में ही जानकारी विद्यमान है।

शरीर आदि प्राप्त वस्तुओं की ममता का त्याग और अप्राप्त परिस्थितियों के चिन्तन का त्याग वर्तमान जीवन की वस्तु है; क्योंकि प्राप्त की ममता का और अप्राप्त के चिन्तन का त्याग विवेकसिद्ध है, अभ्याससाध्य नहीं। जो विवेकसिद्ध है, उसकी प्राप्ति वर्तमान में हो सकती है।

अत: सभी आसक्तियों का त्याग वर्तमान जीवन की वस्तु है। जो वर्तमान में ही सम्भव है, उसके लिए भविष्य की आशा करना असावधानी है। यद्यपि असावधानी का जीवन में कोई स्थान ही नहीं है, परन्तु प्राप्त वस्तुओं की ममता और अप्राप्त वस्तुओं के चिन्तन ने ही असावधानी को जन्म दिया है। ममता करने मात्र से ही कोई वस्तु सुरक्षित नहीं रह सकती और चिन्तन मात्र से ही कोई वस्तु प्राप्त नहीं हो जाती, तो फिर ममता और चिन्तन का जीवन में अर्थ ही क्या है?

हाँ, प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग का और प्राप्त व्यक्तियों की सेवा का तो जीवन में स्थान है; क्योंकि प्राप्त व्यक्तियों की सेवा से मोह का और प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग से लोभ का अन्त हो जाता है।

यह नियम है कि निर्लोभता तथा निर्मोहता आ जाने पर सभी आसक्तियाँ स्वत: मिट जाती हैं। आसक्तियों के मिटते ही सभी बन्धन अपने-आप टूट जाते हैं और प्राप्त में नित-नव प्रीति जाग्रत होती है, जो वास्तव में जीवन है।

जो स्वभाव से ही जा रहा है, उसे आप रोक नहीं सकते। उसकी तो यथाशक्ति सेवा कर दो अथवा उससे क्षमा माँग लो या उसे प्रीतिपूर्वक

विदाई दे दो। ऐसा करते ही हम उससे अभिन्न हो जाएँगे, जिससे हमारा नित्य-सम्बन्ध एवं स्वरूप की एकता है।

यद्यपि साधन में न तो पराधीनता है, न असमर्थता है और न असफलता। परन्तु जो कर सकते हैं, उसके न करने से; जो जानते हैं, उसके न मानने से; और जो नहीं कर सकते, उसके करने का प्रयास करने से ही साधक के जीवन में असफलता, असमर्थता एवं परतन्त्रता आ जाती है। समस्त सामर्थ्य शान्ति में निहित है, संग्रह में नहीं। शान्ति त्याग में निहित है, राग में नहीं।

यह सभी को मान्य होगा कि त्याग में स्वाधीनता और संग्रह में पराधीनता है। पराधीनता का अन्त करने के लिए हमें संग्रह-रहित जीवन का अनुभव करना होगा, जिसके करने में साधक सर्वदा स्वाधीन है। संग्रह-रहित जीवन में ही प्रीति का प्रादुर्भाव होता है। प्रीति में ही नित-नव रस विद्यमान है।

यह सभी विचारशीलों को मान्य होगा कि रस के अभाव में ही विकारों का जन्म होता है और प्रीति के अभाव से ही रस का अभाव होता है। अतः निर्विकार होने के लिए प्रीति-युक्त जीवन अनिवार्य है। प्रीति नित्य-प्राप्त से ही सम्भव है, किसी अन्य से नहीं; क्योंकि नित्य-प्राप्त से ही नित्य-योग हो सकता है, उससे नहीं, जिससे संयोग स्वीकार कर लिया है।

अतः जिससे संयोग है, उसकी सेवा करना है और जो नित्य-प्राप्त है उससे प्रेम करना है। जिसकी सेवा करना है, उससे ममता-रहित होना है और जिससे प्रेम करना है, उससे अभिन्न होना है। यही वास्तव में साधन-तत्त्व है। यह नियम है कि साधक साधन-तत्त्व से अभिन्न होकर ही साध्य को पाता है।

(19)

व्याकुलता और प्रेम

वर्तमान दशा का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि भोगों की ओर गतिशील होने पर क्षणिक सुख का भास अथवा निराशा का ही दर्शन होता है और भोगों से अतीत की ओर गतिशील होने पर व्याकुलता, जीवन तथा प्रेम की उपलब्धि होती है।

व्याकुलता ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थाई होती जाती है, त्यों-त्यों सभी दोष निर्दोषता में और सभी अभिमान निरभिमानता में तथा भेद और दूरी अभिन्नता एवं अत्यन्त निकटता में स्वत: बदलती जाती है अथवा यों कहो कि आवश्यक शक्ति का विकास अपने आप होने लगता है। इस दृष्टि से व्याकुलता बड़े ही महत्त्व की वस्तु है।

व्याकुलता की जागृति और उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि हम अपने लक्ष्य को वर्तमान जीवन की ही वस्तु मानें और उससे कभी भी निराश न हों; अपितु उसके लिए नित-नव आशा का संचार होता रहे।

यह नियम है कि लक्ष्य वही हो सकता है, जिससे जातीय एकता, आत्मीयता एवं नित्य-सम्बन्ध हो। तभी हमारा लक्ष्य हमारे वर्तमान जीवन की वस्तु बन सकता है और उसी के लिए नित-नव आशा का संचार तथा व्याकुलता जाग्रत हो सकती है। अत: लक्ष्य से निराश होने के लिए जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

लक्ष्य का निर्णय व्याकुलता की जागृति में हेतु है और व्याकुलता की जागृति निर्दोष बनाकर जीवन प्रदान करने में समर्थ है तथा निर्दोष जीवन में ही प्रेम निहित है; कारण, कि नित्य-जीवन तथा प्रेम का विभाजन नहीं हो सकता और अनित्य-जीवन में प्रेम की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि लक्ष्य का निर्णय कैसे हो? यह सभी को मान्य होगा कि भोग का आरम्भ-काल भले ही सुखद प्रतीत हो, पर अन्त में तो भयंकर दु:ख ही प्राप्त होता है। इस अनुभूति का आदर ज्यों-ज्यों स्थाई होता जाता है, त्यों-त्यों लक्ष्य के निर्णय की सामर्थ्य साधक में स्वत: आने लगती है और लक्ष्य का निर्णय होते ही साधन का निर्माण होने लगता है अथवा यों कहो कि साधक का समस्त जीवन अपने आप साधन बन जाता है। भोग के आरम्भ-काल के सुख का भास और परिणाम का भयंकर दु:ख, भोग की वास्तविकता का ज्ञान तथा भोग से निराश करने में हेतु है, भोग को जीवन बनाने में नहीं।

अत: यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि भोग से योग की ओर गतिशील होने के लिए ही साधन-निर्माण की अपेक्षा है। विभिन्न साधकों के साध्य में एकता हो सकती है, साधन में नहीं; कारण, कि साधन का जन्म साधकों में से होता है, साध्य में से नहीं। यह सभी को मान्य होगा कि सर्वांश में दो साधक भी समान योग्यता के नहीं होते। इस कारण साधन का भेद स्वाभाविक है, पर साध्य का नहीं।

साधन-निर्माण करने के लिए हमें यह भली-भाँति जानना होगा कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। यह नियम है कि जो नहीं करना चाहिए, उसके न करने से, जो करना चाहिए, वह स्वत: होने लगता है।

अब विचार यह करना है कि क्या नहीं करना चाहिए? तो कहना होगा कि राग-द्वेष तथा स्वार्थ-भाव का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है; क्योंकि ये तीनों अविवेकसिद्ध हैं। यह नियम है कि जो नहीं करना चाहिए, उसे न करना सभी के लिए सहज, सुगम और अनायास है। यही नहीं, उसके लिए किसी अन्य की अपेक्षा भी नहीं होती।

अत: जो नहीं करना चाहिए, उसके न करने में सभी स्वाधीन हैं। इस दृष्टि से सभी साधक राग-द्वेष तथा स्वार्थ-भाव से रहित हो सकते हैं।

स्वार्थ-भाव का अन्त होते ही सर्वहितकारी भावनाएँ स्वत: उत्पन्न होती हैं, जो वास्तविक सेवा है। सेवा स्वार्थ को खाकर सेवक के हृदय को करुणा से भर देती है।

जो हृदय करुण-रस से भर जाता है, उससे राग-द्वेष स्वत: मिट जाते हैं। राग-द्वेष के मिटते ही त्याग और प्रेम अपने-आप आ जाते हैं। त्याग से चिर-शान्ति तथा नित्य-जीवन की उपलब्धि होती है और प्रेम अगाध अनन्त रस प्रदान करने में समर्थ है।

प्रेम एक ऐसा अलौकिक, दिव्य, चिन्मय तत्त्व है कि जो कभी घटता नहीं, मिटता नहीं और न कभी उसकी पूर्ति ही होती है, अपितु नित-नूतन ही रहता है। इसी कारण उसकी आवश्यकता सर्वदा समस्त विश्व को रहती है।

इतना ही नहीं, समस्त विश्व जिसके किसी एक अंश में है, उस अनन्त से भी अभिन्न करने में प्रेम ही समर्थ है; क्योंकि प्रेम किसी प्रकार की दूरी तथा भेद रहने नहीं देता। इस दृष्टि से केवल प्रेम ही प्राप्त करने योग्य तत्त्व है।

(20)

विवेक और प्रीति

जीवन का अध्ययन करने पर यह विदित होता है कि जो स्वत: हमसे दूर हो रहा है, उस पर से हमें अपना स्वत्व हटा लेना चाहिए। ऐसा करते ही लोभ, मोह, जड़ता आदि सभी विकार मिट जाते हैं और निर्विकारता एवं प्रीति उदय होती है, जो अपने में ही अपने प्रियतम से अभिन्न करने में समर्थ है। जाने वाली वस्तु, अवस्था एवं व्यक्तियों की ममता ही हमें लोभ, मोह, जड़ता आदि विकारों में आबद्ध करती है।

अब विचार यह करना है कि ममता से क्या प्राप्त वस्तुएँ सुरक्षित रह सकती हैं? अथवा अप्राप्त वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं? कदापि नहीं। इस दृष्टि से यह स्पष्ट हो जाता है कि ममता का जीवन में कोई स्थान ही नहीं है और ममता के त्याग से कोई क्षति भी नहीं है। वस्तुओं के सदुपयोग का और व्यक्तियों की सेवा का जीवन में स्थान है, पर उनको अपना मानने का नहीं।

यह नियम है कि जिन्हें हम अपना मान लेते हैं, उनका राग अंकित हो जाता है। जिसका राग अंकित हो जाता है, उसकी स्मृति स्वत: होने लगती है और वह स्मृति व्यर्थ-चिन्तन उत्पन्न करती है, जो सार्थक-चिन्तन में विघ्न है। सार्थक-चिन्तन के बिना प्रीति जाग्रत नहीं होती और प्रीति के बिना नित्य-प्राप्त प्रियतम से अभिन्नता नहीं होती।

अत: प्रीति की जागृति के लिए निरर्थक-चिन्तन का त्याग अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा, जब हम अपनी ममता सब ओर से हटाकर अपने नित्य-प्राप्त प्रियतम में कर लें।

हम से सबसे बड़ी भूल यही होती है कि जिनसे निराश नहीं होना चाहिए, उनसे निराश होते हैं और जिनकी आशा नहीं करनी चाहिए, उनकी आशा करते हैं। उसका परिणाम यह होता है कि जो प्रीति करने योग्य है, उससे प्रीति नहीं हो पाती और जो चिन्तन करने योग्य नहीं है, उसका चिन्तन करने लगते हैं।

यद्यपि प्रीति बीजरूप से सभी में विद्यमान है, परन्तु जब हम उसे वस्तु, व्यक्ति, अवस्था आदि में आबद्ध कर देते हैं, तब वह आसक्ति तथा लोभ, मोह, जड़ता आदि विकारों में बदल जाती है। जैसे, नदी का निर्मल जल किसी गड्ढे में आबद्ध होने से विकृत होकर अनेक विषैले कीटाणु उत्पन्न करता है।

अत: प्रीति जैसे निर्मल चिन्मय तत्त्व को किसी वस्तु, व्यक्ति आदि में आबद्ध नहीं करना चाहिए। प्रीति तो प्रियतम का स्वभाव है। उसे सब

ओर से हटाकर अपने प्रियतम की ओर ही स्वत: प्रवाहित होने देना चाहिए। अनन्त की प्रीति भी अनन्त है। उसका कभी अन्त नहीं होता। इसी कारण वह नित-नूतन रस प्रदान करने में समर्थ है।

हम वस्तु आदि की प्राप्ति में भले ही असमर्थ हों; परन्तु प्रीति की प्राप्ति में असमर्थ तथा परतन्त्र नहीं हैं, क्योंकि प्रीति से हमारी जातीय एकता है। प्रीति का कभी नाश नहीं होता, अपितु स्थान-भेद से रूपान्तर-सा प्रतीत होता है।

यदि प्रीति समस्त दृश्य की ओर प्रवाहित हो, तो उसका नाम विश्व-प्रेम हो जाता है; यदि 'स्व' की ओर प्रवाहित हो, तो उसे आत्मरति कहते हैं और वही यदि अनन्त की ओर प्रवाहित हो, तो उसी का नाम प्रभु-प्रेम हो जाता है।

सभी के प्रति होने वाली प्रीति अथवा देह से अतीत अपने प्रति होने वाली प्रीति साधना है और अनन्त के प्रति होने वाली प्रीति साध्य है। इस दृष्टि से प्रीति साधन भी है और साध्य भी, नित्य भी है और अनन्त भी।

यह सबको मान्य होगा कि प्रीति सभी में विद्यमान है। पर जो उसका सदुपयोग करते हैं, वे दिव्य तथा चिन्मय जीवन की ओर गतिशील होते हैं और जो दुरुपयोग करते हैं, वे जड़ता आदि विकारों में आबद्ध हो जाते हैं। प्रीति का सदुपयोग वे ही कर सकते हैं, जो सब प्रकार की चाह से रहित हैं। चाह से युक्त प्राणी तो प्रीति का दुरुपयोग करता है। प्रीति के दुरुपयोग में अपना विनाश है और प्रीति के सदुपयोग में जीवन है।

किसी मान्यता-विशेष में आबद्ध प्रीति ही सीमित होकर संघर्ष उत्पन्न करती है, जो विनाश का मूल है। सभी मान्यताओं से अतीत सत्ता में होने वाली प्रीति विभु होकर शान्ति तथा अभिन्नता प्रदान करती है। प्रीति का दुरुपयोग अविवेकसिद्ध है और सदुपयोग विवेक के प्रकाश में निहित है; कारण, कि विवेक सभी मान्यताओं से अतीत अनन्त तत्त्व से नित्य-योग कराने में समर्थ है। नित्य-योग में ही प्रीति की प्राप्ति है।

अत: यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि विवेकयुक्त जीवन में ही प्रीति का प्रादुर्भाव होता है। प्रीति जिसका जीवन है, उसकी दृष्टि में सृष्टि नहीं रहती; कारण, कि प्रीति प्रियतम से अभिन्न कर देती है, जो वास्तविक जीवन है।

(21)

साधन-निर्माण

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधन में असफलता का कारण एकमात्र अपनी रुचि और योग्यता के अनुरूप साधन का निर्माण न करना है। यद्यपि साधन-दृष्टि से सभी सिद्धान्त आदरणीय तथा माननीय हैं और सभी से सफलता हो सकती है, पर अपनी सिद्धि उसी साधन से होगी, जिसका निर्माण अपने निरीक्षण द्वारा किया गया हो। इतना ही नहीं, साधन वही अनुसरणीय है, जिसके प्रति निस्सन्देहता तथा विश्वास हो और जो स्वभाव से ही रुचिकर हो। ये तीनों बातें जिस साधन के प्रति होती हैं, वह साधन, साधक का जीवन हो जाता है।

यह नियम है कि जो साधन जीवन बन जाता है, उससे सिद्धि अवश्य होती है। जिस प्रकार नेत्र से देखने की क्रिया का विभाजन नहीं हो सकता, उसी प्रकार साधक के जीवन से साधन का विभाजन नहीं हो सकता।

इस दृष्टि से साधन और साधक में अभिन्नता है एवं साधन और साध्य में जातीय एकता है। जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है, उसकी प्राप्ति वर्तमान में हो सकती है; क्योंकि जातीय तथा स्वरूप की एकता उससे नहीं हो सकती, जिससे देश-काल की दूरी हो। जिससे देश-काल की दूरी नहीं है, उसके लिए भविष्य की आशा करना साधक का अपना ही बनाया हुआ दोष है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

यह सभी को मान्य होगा कि प्रत्येक प्राणी किसी न किसी का होकर ही रहता है, जो जिसका होकर रहता है, उसके जीवन में उसकी प्रीति तथा उसका विश्वास स्वत: उत्पन्न होता है। यह नियम है कि जिसके प्रति विकल्प-रहित विश्वास तथा अविचल प्रीति होती है, उसकी प्राप्ति अवश्य हो जाती है।

अब हमें अपना निरीक्षण करना चाहिए कि हम किसके होकर रहते हैं अथवा किसके होकर रहना चाहते हैं? इन दोनों बातों का निर्णय अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति तथा स्वाभाविक लालसा के आधार पर ही हो सकता है। यदि स्वाभाविक लालसा और वर्तमान वस्तुस्थिति में कोई भेद नहीं है, तब तो साधन-निर्माण का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि साधन की आवश्यकता एकमात्र स्वाभाविक लालसा की पूर्ति तथा वस्तुस्थिति से ऊपर उठने के लिए ही होती है।

वर्तमान का अभाव ही साधन की प्रेरणा देता है। इस दृष्टि से सबसे प्रथम साधक को अपने वर्तमान अभाव का स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए और उसकी पूर्ति के लिए उत्साहपूर्वक उत्कट लालसा जाग्रत रहनी चाहिए। उत्कट लालसा उससे सम्बन्ध तोड़ने में समर्थ होती है, जो अपने अभीष्ट लक्ष्य से भिन्न है अथवा यों कहो कि अपने लक्ष्य से सम्बन्ध जोड़ देती है। उसके बाद साधक उसी का होकर रहने लगता है। विभु होने की रुचि हमें सभी का होकर रहने की, स्वाधीनता की रुचि हमें अकेले रहने की और प्रेम-प्राप्ति की अभिलाषा हमें किसी एक का ही होकर रहने की प्रेरणा देती है।

जो अकेला नहीं रह सकता, वह कभी स्वाधीन नहीं हो सकता; क्योंकि अपने से भिन्न की आवश्यकता का नाम ही पराधीनता है। जो सभी का होकर नहीं रह सकता, वह राग-द्वेष रहित नहीं हो सकता; क्योंकि विभाजन से ही राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है और जो किसी एक का ही

नहीं हो सकता, वह प्रेम प्राप्त नहीं कर सकता: क्योंकि प्रेम अनेक सम्बन्धों को एक सम्बन्ध में विलीन करने पर ही हो सकता है।

इस दृष्टि से हमें सभी का होकर अथवा किसी एक का होकर ही रहने का निर्णय करना होगा। यद्यपि स्वाधीनता; व्यापकता एवं प्रेम—ये तीनों एक ही जीवन की वस्तुएँ हैं, इनमें से किसी का भी त्याग नहीं किया जा सकता; परन्तु साधन-दृष्टि से साधक को आरम्भ में इन तीनों में से किसी एक को ही अपनाना होगा। हाँ, यह दूसरी बात है कि किसी एक के अपना लेने पर शेष दो भी स्वत: आ जाएँ।

सभी का होकर रहने में स्वार्थ भाव गल जाएगा, जिसके गलते ही सुख-दु:ख का द्वन्द्व मिट जाएगा और व्यापकता आ जाएगी। उसके आते ही वीतरागता उदय होगी, जो सभी से असंगकर अपने ही में सन्तुष्ट करने में समर्थ है और यही वास्तविक स्वाधीनता है।

प्रेम-प्राप्ति के लिए हमें व्यापकता और स्वाधीनता के रस से ऊपर उठना होगा, तभी अलौकिक चिन्मय प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश होगा। यद्यपि स्वाधीनता एवं व्यापकता तथा प्रेम उस अनन्त की ही विभूतियाँ हैं, परन्तु साधक की रुचि के अनुसार उन विभूतियों का अलग-अलग वर्णन किया जाता है। स्वाधीनता में ही जीवन और जीवन में ही प्रेम निहित है।

जब स्वार्थभाव गल जाता है, तब साधक किसी का बुरा नहीं चाहता। जो किसी का बुरा नहीं चाहता, वह दुखियों को देखकर करुणित और सुखियों को देखकर प्रसन्न होने लगता है। करुणा सुख-भोग की आसक्ति को और प्रसन्नता भोग-वासनाओं को खा लेती है; कारण, कि खिन्नता से ही भोग-वासना की उत्पत्ति होती है। सुख-भोग की आसक्ति और भोग-वासनाओं का अन्त होते ही नित्य-योग स्वत: प्राप्त होता है, जो स्वाधीनता, जीवन तथा प्रेम-प्राप्ति में समर्थ है।

इस दृष्टि से किसी का बुरा न चाहने मात्र से ही सुगमतापूर्वक साधन का निर्माण हो जाता है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब हम सभी के होकर

रहना सीखें। सभी के होकर रहने के लिए हमें अपना निर्माण करना होगा अर्थात् जो अपने को इतना सुन्दर बना लेता है कि उसे अपनी प्रसन्नता के लिए किसी वस्तु, व्यक्ति आदि की अपेक्षा नहीं रहती, वही सभी का होकर रह सकता है।

वस्तु और व्यक्ति आदि की अपेक्षा अविवेक-सिद्ध है। यदि उस प्राप्त विवेक से, जो अनन्त की ओर से स्वतः मिला है, अविवेक को मिटा दिया जाए, तो हमें अपने लिए वस्तु, व्यक्ति आदि की अपेक्षा शेष नहीं रहेगी। विवेक के अनादर का ही दूसरा नाम अविवेक है। यदि विवेक का अनादर न किया जाए, तो अविवेक स्वतः मिट जाता है।

यद्यपि मानव-जीवन प्रसन्नता तथा आनन्द का प्रतीक है; परन्तु विवेक के अनादर द्वारा हमने उसे राग-द्वेष, क्षोभ, क्रोध आदि विकारों का केन्द्र बना लिया है। विकार किसी के भाग्य में नहीं लिखे हैं और न किसी ने हमें प्रदान किए हैं; वे तो हमने स्वयं ही अपनी भूल से उत्पन्न कर लिए हैं।

अभिन्नता में भिन्नता को स्वीकार करना ही भूल है। यद्यपि स्वरूप से भिन्नता का जीवन में कोई स्थान ही नहीं है, परन्तु बाह्य गुणों, आकृतियों, कर्म तथा काल्पनिक भेदों के कारण हमने अनेक प्रकार की भिन्नता स्वीकार कर ली है, जिसने अनेक दोष उत्पन्न कर दिए हैं।

समस्त सृष्टि एक है और उसका प्रकाशक भी एक है, तो फिर भिन्नता के लिए स्थान ही कहाँ है? अतः जो भी भिन्नता प्रतीत होती है, वह हमारे प्रमाद में है, वास्तव में नहीं।

यदि हम सभी के होकर अथवा उस प्रकाशक के होकर रहने लग जाएँ, जो सभी का सब कुछ है और सभी से अतीत है, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक वर्तमान में ही प्रमाद का अन्त हो सकता है। प्रमाद का अन्त होते ही दिव्य चिन्मय जीवन में प्रवेश हो जाता है, वही वास्तविक जीवन है। उसी की प्राप्ति के लिए ही साधन-निर्माण करना है और यह वर्तमान में ही हो सकता है।

(22)

प्रीति ही जीवन है

समस्त जीवन में तत्त्वरूप से प्रीति ही विद्यमान है। इस रहस्य को कोई विरले ही जान पाते हैं। प्रीति की अभिव्यक्ति में ही प्राणी का पुरुषार्थ, प्रीति के सदुपयोग में ही नित-नव रस और प्रीति की अनन्तता में ही जीवन की पूर्णता विद्यमान है।

किसी-न-किसी की प्रीति का समूह ही व्यक्ति का अस्तित्व है। पर जब उस प्रीति का उपयोग प्राणी अपने सुख के लिए करने लगता है, तब उसका नाम लोभ, मोह आदि हो जाता है। वस्तुओं की प्रियता और वस्तुओं की आस्था जिसमें है, उसी को लोभी और देह की प्रियता और देह की आस्था जिसमें है, उसी को मोही कहते हैं। अथवा यों कहो कि लोभी तथा मोही का स्वभाव ही लोभ तथा मोह है। लोभ और मोह का ही दूसरा नाम प्रमादयुक्त सीमित प्रीति है।

यह नियम है कि जिसमें जिसकी प्रीति होती है, वह उसी में उसको आबद्ध कर देती है। जैसे, वस्तुओं की प्रीति वस्तुओं में और देह की प्रीति देह में व्यक्ति को आबद्ध कर देती है, जो वास्तव में जड़ता है। जड़ता में भी जो रस का भास है वह प्रीति का ही है, पर उसे आसक्ति कहते हैं, प्रीति नहीं। इतना ही नहीं, जितने बन्धन हैं उनमें सत्तारूप से प्रीति ही विद्यमान है।

जिस प्रकार इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव बुद्धि के ज्ञान का आदर नहीं होने देता और बुद्धि के ज्ञान की आसक्ति नित्य-ज्ञान से अभिन्न नहीं होने देती, उसी प्रकार वस्तु, अवस्था एवं व्यक्तियों की प्रियता हमें अनन्त की प्रीति होकर अनन्त से अभिन्न नहीं होने देती। जिस प्रकार सूर्य के ताप से उत्पन्न हुए बादल सूर्य को ही ढक-सा लेते हैं, उसी प्रकार नित्य-ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित बुद्धि के ज्ञान की आसक्ति और इन्द्रिय-ज्ञान का सद्भाव व्यक्ति को नित्य-ज्ञान से विमुख-सा कर देते हैं।

अब यदि कोई यह कहे कि इन्द्रियों का ज्ञान बुद्धि के ज्ञान का अनादर कराने में कैसे समर्थ होता है? तो कहना होगा कि देह की प्रियता ने ही देह में नित्यता का भास करा दिया है। यद्यपि देह स्वभाव से ही परिवर्तनशील है, परन्तु देह की तद्रूपता उस देह के परिवर्तन का प्रभाव व्यक्ति पर नहीं होने देती। बस, यही बुद्धि के ज्ञान के अनादर का हेतु है।

बुद्धि के ज्ञान के अनादर में ही इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव निहित है, और कुछ नहीं। इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव ही व्यक्ति में अनेक प्रकार का राग अंकित कर देता है। राग-रूपी बादल ही अनुरागरूपी सूर्य को ढकने का प्रयास करते हैं।

यह भली-भाँति जान लेना चाहिए कि यद्यपि सूर्य के ताप से उत्पन्न हुए बादल सूर्य को ढकने का प्रयास करते हैं, परन्तु उन बादलों को छिन्न-भिन्न करने की सामर्थ्य भी सूर्य में ही है। उसी प्रकार रागरूपी बादलों का विनाश करने की सामर्थ्य अनुरागरूपी सूर्य में ही है।

ज्ञान की न्यूनता प्रीति को राग तथा मोह आदि में परिवर्तित करती है और ज्ञान की पूर्णता राग, मोह आदि को प्रीति में बदल देती है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि अल्प-ज्ञान का प्रभाव ही चिन्मय प्रीति का 'राग' के रूप में भास कराता है।

तत्त्वरूप से विद्यमान प्रीति को प्रकाशित करने के लिए सर्वप्रथम हमें यह जान लेना चाहिए कि प्रीति को आच्छादित करने में हेतु क्या है? तो कहना होगा कि प्रीति को आच्छादित करने में एकमात्र हेतु वस्तु और व्यक्ति आदि के द्वारा सुख-भोग की रुचि है, जो वास्तव में अविवेकसिद्ध है। अतः ज्यों-ज्यों सुख-लोलुपता मिटती जाती है, त्यों-त्यों प्रीति स्वतः उद्भासित होने लगती है। अतः प्रीति को जाग्रत करने के लिए हमें सुख-लोलुपता का अन्त करना परम आवश्यक है, जो विवेक से ही हो सकता है।

यह नियम है कि सुख-लोलुपता का अन्त होते ही भोग-वासनाओं का अन्त हो जाता है, भोग-वासनाओं के अन्त में ही नित्य-योग निहित हैं और वही अचाहपद प्राप्त कराने में समर्थ है। चाह-रहित होते ही भिन्नता मिट जाती है और अभिन्नता आ जाती है, जो दिव्य चिन्मय प्रीति प्रदान करने में समर्थ है। अभिन्नता भेद तथा दूरी को खा लेती है, जिससे प्रीति की अभिव्यक्ति स्वत: हो जाती है।

प्रीति की अभिव्यक्ति अचाह होने में निहित है और सर्वस्व दे डालने में ही प्रीति का उपयोग है, अन्य किसी में नहीं। हाँ, यह बात अवश्य है कि प्रीति के उपयोग से प्रीति की उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती है, क्षति नहीं; क्योंकि प्रीति स्वरूप से चिन्मय तथा अनन्त है। इसी कारण प्रीति के उपयोग में नित-नूतन रस है।

प्रीतिजनित नित-नव रस का पात्र वही हो सकता है जिसे प्रीति से भिन्न अन्य किसी वस्तु आदि की अपेक्षा न हो, अर्थात् जो कामरहित हो; कारण, कि कामनायुक्त प्राणी को तो अपनी इच्छित वस्तु की ही अपेक्षा होती है, प्रीति की नहीं।

अत: यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्रीति उस अनन्त में ही विलीन होती है, जो काम से अतीत है। प्रीति का आरम्भ होता है, पर अन्त नहीं; क्योंकि न उसकी निवृत्ति होती है और न पूर्ति। निवृत्ति उसकी होती है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है और पूर्ति उसकी होती है, जिसका लक्ष्य केवल नित्य तत्त्व हो; परन्तु प्रीति तो नित्य भी है और अनन्त भी। इसी कारण प्रीति की प्राप्ति होती है, पूर्ति और निवृत्ति नहीं।

विकारों की निवृत्ति का परिणाम स्वाधीनता है, नित्य-तत्त्व की जिज्ञासा की पूर्ति का परिणाम जीवन है और प्रीति की प्राप्ति में है, अगाध, अनन्त रस। अत: 'प्रीति' निवृत्ति और पूर्ति से विलक्षण तत्त्व है। उसकी अनन्तता में ही जीवन की पूर्णता है।

(23)

कर्त्तव्यपरायणता से लक्ष्य की प्राप्ति

वर्तमान वस्तुस्थिति का अध्ययन करने पर हमें अपने कर्त्तव्य और लक्ष्य का बोध हो जाता है। कर्त्तव्य का ज्ञान कर्त्तव्यनिष्ठ बनाने में और कर्त्तव्यपरायणता लक्ष्य-प्राप्ति कराने में समर्थ है। जिस बीज में उगने की शक्ति विद्यमान है, उसके उगाने में ही पृथ्वी, जल, वायु आदि सहयोग देते हैं, उसका विरोध नहीं करते। उसी प्रकार कर्ता में विद्यमान कर्त्तव्यनिष्ठा को सफल बनाने में ही प्राप्त परिस्थितियाँ सहयोग देती हैं, क्योंकि प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है।

यह नियम है कि न्याय में हित निहित रहता है, अहित नहीं। इस दृष्टि से कर्त्तव्य-परायण साधक के जीवन में असफलता का कोई स्थान ही नहीं है।

परिस्थितियों के द्वारा अहित होने का भय हमारी असावधानी से प्रतीत होता है, वास्तव में नहीं; क्योंकि साधक के जीवन में अहित की ओर गतिशील होने के लिए कोई स्थान ही नहीं है, केवल हमारी असावधानी ही हमें अहित की ओर ले जाती है।

अब यदि कोई यह कहे कि असावधानी क्या परिस्थिति का परिणाम नहीं है? तो कहना होगा कि असावधानी परिस्थिति-जन्य नहीं है, अपितु जो कर सकते हैं, उसके न करने से अथवा प्राप्त योग्यता के दुरुपयोग से ही असावधानी उत्पन्न होती है, जो साधक का अपना बनाया हुआ दोष है, प्राकृतिक नहीं।

हाँ, यह अवश्य है कि जब साधक अपने बनाए हुए दोष को सहन नहीं कर सकता, तब निर्दोष होने की सामर्थ्य स्वत: आ जाती है, अर्थात् असावधानी अपने आप मिट जाती है। यह नियम है कि वही दोष सुरक्षित रहता है जिसे हम सहन करते रहते हैं। अत: असावधानी तभी तक रहती

है, जब तक हम उसे रखना चाहते हैं, असह्य होते ही असावधानी स्वत: मिट जाती है।

असावधानी रूपी भूमि में ही दोषरूपी पौधे उगते हैं और असावधानी के मिटते ही सभी दोष अपने आप मिट जाते हैं। इस दृष्टि से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि असावधानी ही सभी दोषों का मूल है।

कर्त्तव्यपरायणता में अपना हित तो है ही, परन्तु उसके द्वारा किसी का अहित भी नहीं होता; कारण, कि कर्त्तव्यनिष्ठ प्राणियों के द्वारा सभी के अधिकार सुरक्षित रहते हैं, किसी के अधिकार का अपहरण नहीं किया जाता।

यह नियम है कि जिसके द्वारा किसी के अधिकार का अपहरण नहीं किया जाता, उससे किसी को भय नहीं होता, अपितु सभी को प्रसन्नता होती है। इस कारण उसे स्वाभाविक ही सबकी सद्भावना मिलती है। अथवा यों कहो कि सभी उसके हित-चिन्तक हो जाते हैं; कारण, कि उसके विकास में सभी का विकास है।

जिसके द्वारा सभी का विकास होने लगता है, उसका न तो कोई विरोधी होता है और न कोई उसका अहित चिन्तन ही करता है। इतना ही नहीं, सभी जड़-चेतन प्राणी उसकी महिमा गाने लगते हैं और उसे सहयोग देकर अपने को धन्य मानते हैं।

अनुकूलता का लालच और प्रतिकूलता का भय तभी तक जीवित है, जब तक हम कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं होते; कारण, कि कर्त्तव्यनिष्ठा सब प्रकार के राग का अन्त करने में समर्थ है। राग-रहित होते ही अनुकूलता का लालच तथा प्रतिकूलता का भय जैसी कोई वस्तु शेष ही नहीं रहती। सभी दोषों का मूल एकमात्र अनुकूलता का लालच तथा प्रतिकूलता का भय है; क्योंकि लालच तथा भय में आबद्ध प्राणी का जीवन सीमित हो जाता है, जिससे अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न होते हैं, जो संघर्ष के मूल हैं।

यह नियम है कि लालच का अन्त होते ही भय स्वतः मिट जाता है। भय के मिटते ही भिन्नता मिट जाती है। भिन्नता का अन्त होते ही सब प्रकार के संघर्ष स्वतः मिट जाते हैं और जीवन में चिर-शान्ति की स्थापना हो जाती है। यह सभी को मान्य होगा कि सभी प्रकार की सामर्थ्य का उद्गम स्थान शान्ति में ही है। इस दृष्टि से असमर्थता का अन्त करने के लिए शान्ति को सुरक्षित रखना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा, जब हम कर्त्तव्यनिष्ठ हों।

कर्त्तव्यनिष्ठ होने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हमारा मन सभी का मन बन जाए। यह तभी सम्भव होगा, जब हम अपने मन से उन सभी बातों को निकाल दें, जिनमें दूसरों का हित तथा प्रसन्नता निहित नहीं है। ऐसा करते ही हमारा मन हमारा न रहेगा, अपितु सभी का हो जाएगा। अथवा यों कहो कि उस अनन्त से अभिन्न हो जाएगा, जो सभी का सब कुछ है।

जब तक हम अपना मन अपने ही पास रखना चाहते हैं, तब तक राग तथा क्रोध आदि दोषों से नहीं बच सकते; कारण, कि जिनके द्वारा हमारे मन की बात पूरी होगी, उनसे राग हो जाएगा और जो मन की बात पूरी होने में बाधक होंगे, उन पर क्रोध आ जाएगा।

राग एक ऐसा मधुर विष है, जो सदैव मृत्यु की ओर ही गतिशील करता रहता है। अर्थात् राग के रहते हुए हम अमर नहीं हो सकते और न बन्धन-रहित ही हो सकते हैं; क्योंकि राग त्याग की सामर्थ्य का अपहरण कर लेता है और त्याग के बिना कर्त्तव्य-पालन सम्भव ही नहीं है। क्रोध एक ऐसी विलक्षण अग्नि है, जो प्रथम उसी को जलाती है, जिसमें क्रोध उत्पन्न होता है। इतना ही नहीं, क्रोध के आते ही कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के निर्णय की सामर्थ्य नष्ट हो जाती है। अथवा यों कहो कि क्रोधावेश में आकर हमें जो नहीं करना चाहिए, वह हम करने लगते हैं। अर्थात् क्रोध हमें कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं होने देता।

अत: यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि जब तक हम केवल अपने ही मन की बात पूरी करते रहेंगे, तब तक कर्त्तव्यनिष्ठ नहीं हो सकेंगे। कर्त्तव्यनिष्ठ होने के लिए हमें दूसरों के अधिकारों की रक्षा करते हुए अपने अधिकार का त्याग करना होगा। दूसरों के अधिकार की रक्षा से विद्यमान राग की निवृत्ति होगी और अपने अधिकार का त्याग नवीन राग उत्पन्न नहीं होने देगा। विद्यमान राग की निवृत्ति और नवीन राग की उत्पत्ति न होने पर मन जैसी कोई वस्तु शेष ही न रहेगी।

मन के शेष न रहने का वास्तविक अर्थ यह है कि मन अमन हो जाए। जिस प्रकार भुना हुआ दाना भूख मिटाने में भले ही समर्थ हो, पर उग नहीं सकता; उसी प्रकार मन अमन हो जाने पर वह जो स्वत: होना चाहिए, उसके होने में भले ही उपयोगी सिद्ध हो, परन्तु बन्धन का हेतु नहीं हो सकता। आवश्यक संकल्पों की पूर्ति और अनावश्यक संकल्पों की निवृत्तिपूर्वक मन में निर्विकल्पता का आ जाना ही मन का अमन होना है।

आवश्यक संकल्पों की पूर्ति से बाह्य जगत् के सभी अधिकार सुरक्षित होने लगते हैं; अर्थात् दूसरों के हित तथा प्रसन्नता में ही प्रवृत्ति होती है, सुखभोग में नहीं। मन की निर्विकल्पता से उस अन्तर्ज्योति के साथ अभिन्नता हो जाती है, जो स्वरूप से दिव्य और चिन्मय है। अथवा यों कहो कि मन चिन्मय होकर उस अनन्त की प्रीति बन जाता है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि मन अमन कैसे हो? इस समस्या को हल करने के लिए हमें यह भली-भाँति जान लेना चाहिए कि उत्पन्न हुए संकल्प की अपूर्ति और पूर्ति में जो दु:ख तथा सुख होता है, वही हमारे मन को अमन नहीं होने देता। यदि संकल्प-पूर्ति के सुख का राग अङ्कित न हो और संकल्प-अपूर्ति के दु:ख को भय, चिन्ता तथा क्षोभ-रहित होकर सहन कर लिया जाए, तो बड़ी ही सुगमता से मन अमन हो सकता है। दु:ख का भय और सुख की लोलुपता ही मन को दिव्य तथा चिन्मय नहीं होने देती।

अत: दुख के भय तथा सुख की लोलुपता का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। दु:ख केवल जागृति प्रदान करने के लिए और सुख उदारतापूर्वक सेवा करने के लिए मिला है। सुख-दु:ख के सदुपयोग से मन स्वत: शुद्ध, शान्त और दिव्य हो जाता है। मन की शुद्धता निर्दोष बनाती है, शान्ति आवश्यक सामर्थ्य प्रदान करती है और दिव्यता प्रीति प्रदान करती है। निर्दोषता, सामर्थ्य और प्रीति, इन तीनों का एक ही जीवन में प्रादुर्भाव होता है। 'निर्दोषता' गुणों के अभिमान को खा लेती है, 'सामर्थ्य' अमरत्व प्रदान करती है और 'प्रीति' अनन्त से अभिन्न कर देती है।

संकल्प की अपूर्ति को सहर्ष सहन कर लेना ही तप है और संकल्प-पूर्ति के सुख में आबद्ध न होना ही त्याग है। तप से भौतिक विकास स्वत: हो जाता है और त्याग से चिर-शान्ति प्राप्त होती है। भौतिक विकास विद्यमान राग को मिटाने में हेतु है और शान्ति चिन्मय-जीवन प्रदान करने में समर्थ है। कर्त्तव्यनिष्ठ होने पर भौतिक विकास तथा चिन्मय-जीवन की उपलब्धि होती है।

(24)

निर्मोहता में दिव्य-जीवन

वस्तुस्थिति पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि निर्मोहता के बिना जीवन की सार्थकता सिद्ध नहीं हो सकती। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि मोह का हेतु क्या है? तो कहना होगा कि देह को सदैव बनाये रखने की आशा तथा विश्वास अथवा अपने को देह मान लेना ही मोह का हेतु है, जो अविवेकसिद्ध है। यद्यपि अविवेक का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, परन्तु अपने जाने हुए का आदर न करना ही हमें वर्तमान में

मोह-रहित नहीं होने देता। निज ज्ञान के अनादर का ही दूसरा नाम अविवेक है, जो वर्तमान जीवन में मिटाया जा सकता है। इस प्रकार निर्मोहता वर्तमान जीवन की वस्तु है।

अब विचार यह करना है कि जो हम जानते हैं, उसके मानने में कठिनाई क्या होती है? तो कहना होगा कि हमें जानने के साधन तीन प्रकार से प्राप्त हैं—इन्द्रियों के द्वारा, बुद्धि के द्वारा और जो बुद्धि से परे है, उसके द्वारा। इन्द्रियों के ज्ञान से जो वस्तु हमें जैसी प्रतीत होती है, वही वस्तु उसी काल में बुद्धि के ज्ञान के द्वारा वैसी प्रतीत नहीं होती। इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव हमें देह आदि वस्तुओं में नित्यता तथा सुन्दरता का भास कराता है, पर बुद्धि का ज्ञान उन्हीं वस्तुओं में सतत परिवर्तन तथा मलिनता का दर्शन कराता है। यद्यपि वस्तु एक है, परन्तु इन्द्रिय और बुद्धि के ज्ञान-भेद से उसकी प्रतीति में भेद हो जाता है।

यह नियम है कि जब इन्द्रियों के ज्ञान को ही, जो अल्प है, हम पूरा ज्ञान मान लेते हैं, तब राग की उत्पत्ति होती है, जो मोह को बनाए रखने में हेतु है। परन्तु जब हम बुद्धि के ज्ञान से इन्द्रियों के ज्ञान पर विजयी हो जाते हैं, तब स्वतः राग 'वैराग्य' में और भोग 'योग' में बदल जाता है। भोग परिवर्तनशील वस्तुओं की ओर गतिशील करता है और योग नित्य-जीवन की ओर। जब सहज योग, भोग की रुचि का अन्त कर देता है, तब विचाररूपी सूर्य स्वतः उदय होता है, जो मोहरूपी अन्धकार को खा लेता है।

इस दृष्टि से मोह का अन्त करने के लिए हमें सहज योग प्राप्त करना होगा। वह तभी हो सकता है, जब हम इन्द्रिय-दृष्टि की अपेक्षा बुद्धि-दृष्टि का अधिक आदर करें। इन्द्रिय-दृष्टि की दृढ़ता मिटते ही बुद्धि-दृष्टि की दृढ़ता सिद्ध हो जाएगी, जो सहज-योग प्राप्त कराने में समर्थ

है। इन्द्रिय-ज्ञान पर बुद्धि द्वारा विवेचन करते रहना इन्द्रिय-ज्ञान को शिथिल बनाता है। परन्तु जब तक बुद्धि-ज्ञान का प्रकाश स्थिर नहीं हो जाता, तब तक वस्तुओं की अनित्यता और मलिनता का चिन्तन होता रहता है, जो बुद्धि का व्यापार है, और कुछ नहीं।

बुद्धि का व्यापार तब तक चलता ही रहता है, जब तक उसके ज्ञान का आदर दृढ़ नहीं होता। जिस प्रकार किसी की विस्मृति ही अन्य की स्मृति का व्यापार चालू रखती है, उसी प्रकार इन्द्रियों के व्यापार का प्रभाव ही बुद्धि के व्यापार को चलाता रहता है। ज्यों-ज्यों इन्द्रिय-व्यापार होने पर भी इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव मिटता जाता है, त्यों-त्यों बुद्धि-जन्य ज्ञान का प्रभाव दृढ़ होता जाता है। ज्यों-ज्यों बुद्धि-जन्य ज्ञान का प्रभाव दृढ़ होता जाता है, त्यों-त्यों बुद्धि का व्यापार स्वयं सम होता जाता है, अर्थात् बुद्धि के ज्ञान की दृढ़ता बुद्धि में समता प्रदान करती है।

बुद्धि में समता आते ही इन्द्रियाँ विषयों से विमुख होकर मन में विलीन हो जाती हैं, मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन हो जाता है। फिर बुद्धि से अतीत जो नित्य-ज्ञान है, उससे अभिन्नता हो जाती है, जिसके होते ही अमरत्व प्राप्त होता है। उसके बाद मोह सदा के लिए मिट जाता है।

निर्मोहता हमें वर्तमान में ही प्राप्त करनी चाहिए। उसके लिए भविष्य की आशा करना भूल है; कारण, कि निर्मोहता किसी कर्म तथा अभ्यास का फल नहीं है, अपितु विवेक-सिद्ध है और विवेक हमें प्राप्त ही है। प्राप्त विवेक का आदर वर्तमान की वस्तु है, भविष्य की नहीं। क्योंकि विवेक के आदर, कर्म और अभ्यास में बड़ा भेद है। कर्म और अभ्यास के लिए देह आदि वस्तुओं की अपेक्षा होती है, पर विवेक के आदर के लिए तो हमें केवल देह आदि वस्तुओं से विमुख होना है, जिसे वर्तमान में ही किया जा सकता है। हाँ, यह अवश्य है कि जिससे विमुख होना हो, उसकी ममता का त्याग अनिवार्य है।

किसी वस्तु को अपना न मानना अथवा मानना, इन बातों के लिए भी किसी कर्म तथा अभ्यास की अपेक्षा नहीं है। अत: ममता का त्याग भी वर्तमान की ही वस्तु है। इस दृष्टि से साधक जब चाहे तब देह की ममता का त्याग करके निर्मोहता प्राप्त कर सकता है।

अब यदि कोई यह कहे कि देह की ममता का त्याग तो सम्भव ही नहीं है; क्योंकि उसका और हमारा चिरकाल का सम्बन्ध है। तो कहना होगा कि जिस प्रकार चिरकाल का अन्धकार वर्तमान के प्रकाश से मिट जाता है, उसी प्रकार चिरकाल की ममता विवेक का आदर करते ही वर्तमान में मिट सकती है।

इतना ही नहीं, प्राणी प्रमादवश देह आदि से ममता भले ही कर ले, पर उन्हें सदैव अपने साथ रख नहीं सकता; क्योंकि देह से जातीय एकता तथा नित्य-सम्बन्ध नहीं है, केवल माना हुआ सम्बन्ध है।

यह नियम है कि माना हुआ सम्बन्ध, न मानने मात्र से ही मिट जाता है, उसके लिए कोई अभ्यास अपेक्षित नहीं है। स्वीकृति, तो अस्वीकृति से ही मिटती है, किसी अभ्यास से नहीं। स्वीकृति में सत्ता उसी की होती है, जिसने उसे स्वीकार किया है। इस दृष्टि से भी हम अपनी स्वीकृति को जब चाहें तब अस्वीकृति में बदल सकते हैं। स्वीकृति के आधार पर बनाया हुआ सम्बन्ध अस्वीकृति मात्र से ही मिट सकता है, अन्य प्रकार से नहीं। इससे यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि यदि हम चाहें तो देह से सम्बन्ध-विच्छेद करके वर्तमान में ही मोह-रहित हो सकते हैं।

निर्मोहता आते ही संयोग की दासता और वियोग का भय मिट जाता है। उसके मिटते ही सहज भाव से नित्य-योग प्राप्त हो जाता है, अर्थात् हम उससे अभिन्न हो जाते हैं, जिससे हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता है। अभिन्न होते ही जड़ता, चिन्मयता में और मृत्यु, अमरत्व में विलीन हो जाती है। अत: निर्मोहतापूर्वक हमें वर्तमान में ही नित्य-चिन्मय-दिव्य जीवन प्राप्त कर लेना चाहिए। यही जीवन की सार्थकता है।

(25)

परिस्थितियों से अतीत के जीवन की ओर

वर्तमान दशा का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि जीवन में वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों की सीमा से पार होने की लालसा स्वभाव से ही विद्यमान है। उसकी पूर्ति के लिए प्राप्त परिस्थिति के बन्धन से और अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन से रहित होना अनिवार्य है। वह तभी सम्भव होगा, अब हम प्राप्त वस्तु, अवस्था आदि का सदुपयोग कर वस्तु आदि से अतीत के जीवन को वर्तमान में ही प्राप्त करें।

इस दृष्टि से वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग 'साधन' और वस्तु, अवस्था आदि से अतीत का जीवन हमारा 'साध्य' है। हम अपने साध्य से केवल विमुख हुए हैं, उससे हमारी देश-काल की दूरी नहीं है। जिससे देश-काल की दूरी नहीं है, उसकी प्राप्ति वर्तमान में ही हो सकती है। जिसकी प्राप्ति वर्तमान में हो सकती है, उसके लिए भविष्य की आशा करना प्राप्ति की लालसा को शिथिल बनाना है। लालसा को शिथिल बनाना ही साधक की सबसे बड़ी असावधानी है। यद्यपि साधक के जीवन में असावधानी के लिए कोई स्थान ही नहीं है, परन्तु संयोग-जनित सुख-लोलुपता ने असावधानी उत्पन्न कर दी है।

अब विचार यह करना है कि सुख-लोलुपता का हेतु क्या है? तो कहना होगा कि स्वार्थ-भाव ने ही सुख-लोलुपता को जन्म दिया है। स्वार्थ-भाव गलाने के लिए सेवा-भाव को अपना लेना आवश्यक है। सेवा उन्हीं की करनी है, जिनसे छुटकारा पाना है। जिनसे छुटकारा पाना है, उनसे ममता नहीं करनी है; कारण, कि ममता आसक्ति उत्पन्न करती है, जो बन्धन का हेतु है। अतः जिनसे विमुख होना है, उनसे ममता करना भूल है। इस दृष्टि से हमें शरीर आदि सभी वस्तुओं से ममता का त्याग करना होगा।

यह नियम है कि जिन वस्तुओं में आसक्ति नहीं रहती, उनके सदुपयोग की सामर्थ्य आ जाती है। अत: देह आदि का सदुपयोग करने के लिए भी हमें उनसे ममता का त्याग करना होगा।

अब यदि कोई यह कहे कि शरीर आदि की ममता का त्याग तो सम्भव ही नहीं है। तो कहना होगा कि ममता करने मात्र से शरीर का कोई हित नहीं होता और ममता के त्याग से कोई अहित नहीं होता। इतना ही नहीं, ममता किसी वस्तु को सुरक्षित भी नहीं रख सकती। जिस वस्तु का जो स्वभाव है, जो स्वरूप है, वह वैसा ही रहेगा। ममता से केवल वस्तु आदि में आसक्ति उत्पन्न होती है, और कुछ नहीं।

आसक्ति का साधन-युक्त जीवन में कोई स्थान ही नहीं है, अपितु आसक्तिरहित होने से ही साधन में प्रगति सम्भव है। इस दृष्टि से वस्तु आदि में ममता करना भूल है। इस भूल के मिटते ही समस्त जीवन, साधन बन जाएगा। समस्त जीवन साधन बन जाने पर सर्वहितकारी प्रवृत्ति तथा वासना-रहित सहज निवृत्ति स्वत: आ जाएगी, जिसके आते ही स्वाभाविक लालसा की पूर्ति हो जाएगी, जो साधक का उद्देश्य है।

यह नियम है कि शरीर आदि वस्तुओं का सदुपयोग कर डालने पर उनसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, क्योंकि जिसका सही उपयोग कर लेते हैं, उसकी आवश्यकता शेष नहीं रहती; कारण, कि सही उपयोग का यह परिणाम होता है कि उपयोग-कर्ता अपने लक्ष्य से अभिन्न हो जाता है। फिर न तो कर्ता का ही अस्तित्व रहता है और न करने के साधनों की ही आवश्यकता रहती है।

परिस्थिति के सदुपयोग की पूर्णता में साधक का अस्तित्व तथा साधन-सामग्री की अपेक्षा नहीं रहती; पर सदुपयोग के प्रयासकाल में तो साधक को साधन-सामग्री की अपेक्षा रहती ही है। जिसकी अपेक्षा रहती है उसकी प्राप्ति स्वत: होती है; कारण, कि प्राप्त के सदुपयोग में यह विलक्षणता है कि अप्राप्त की प्राप्ति आवश्यकतानुसार हो ही जाती है

अर्थात् वस्तुओं के सदुपयोग से आवश्यक वस्तुएँ और अनित्य-जीवन के सदुपयोग से नित्य-जीवन प्राप्त हो जाता है। इस दृष्टि से भी प्राप्त के सदुपयोग का ही महत्त्व है, प्राप्त वस्तु आदि के प्रति ममता का नहीं। अतः वस्तुओं के रहते हुए ही उनकी ममता से रहित हो जाना है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जो वस्तुएँ हमें प्राप्त हैं, उनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण क्या है? तो कहना होगा कि सभी वस्तुओं में अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु 'वर्तमान समय' है। समय के सदुपयोग में ही समस्त जीवन का सदुपयोग निहित है। इतना ही नहीं, समय के सदुपयोग से अन्य वस्तुओं की उपलब्धि हो सकती है, पर किसी भी वस्तु के बदले में समय नहीं मिल सकता।

इस दृष्टि से समय का सदुपयोग तथा आदर करना अत्यन्त आवश्यक है। वह तभी सम्भव होगा, जब साधक व्यर्थ चेष्टा तथा व्यर्थ चिन्तन का अन्त कर दे। ऐसा करते ही सार्थक चेष्टाएँ और सार्थक चिन्तन स्वतः होने लगता है। सार्थक चेष्टा कर्म की आसक्ति का अन्त करने में और सार्थक चिन्तन सब प्रकार के चिन्तन से रहित करने में समर्थ है।

कर्म की आसक्ति मिटते ही स्थूल शरीर का अभिमान और सब प्रकार के चिन्तन से रहित होते ही सूक्ष्म शरीर का अभिमान गल जाता है, जिसके गलते ही सहज स्थिति स्वतः आ जाती है। फिर कारण शरीर का भी अभिमान गल जाता है अथवा यों कहो कि उसका नाश हो जाता है, जिसके होते ही दिव्य-चिन्मय-नित्य-जीवन से अभिन्नता हो जाती है। इस दृष्टि से समय के आदर से ही वास्तविक जीवन की प्राप्ति हो सकती है।

जिन चेष्टाओं का सम्बन्ध वर्तमान से न हो और जिनके द्वारा दूसरों के अधिकार की रक्षा न हो, वे सभी चेष्टाएँ व्यर्थ हैं। वर्तमान का सम्बन्ध उन्हीं चेष्टाओं से हो सकता है, जिनके करने में स्वाधीनता हो और दूसरों के अधिकार की रक्षा उन्हीं चेष्टाओं के द्वारा हो सकती है, जिनसे किसी

का अहित न हो और अपना सुख-भोग न हो। जिन चेष्टाओं के द्वारा सुख-भोग नहीं किया जाता, उनका राग अंकित नहीं होता; जिनका राग अंकित नहीं होता, उनका चिन्तन नहीं होता। अर्थात् सार्थक चेष्टाओं से वस्तु, अवस्था आदि का चिन्तन मिट जाता है, जिसके मिटते ही जिसकी स्वाभाविक लालसा है अथवा जो वस्तु आदि से अतीत है, उसका चिन्तन स्वत: होने लगता है।

जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि काष्ठ को भस्म कर स्वत: शान्त हो जाती है, उसी प्रकार सार्थक चिन्तन व्यर्थ चिन्तन को खाकर स्वयं शान्त हो जाता है। सब प्रकार के चिन्तन से रहित होते ही 'यह' और 'है' का विभाजन स्वत: हो जाता है अथवा यों कहो कि 'यह', 'है' में विलीन हो जाता है; क्योंकि जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती, वह उसी से अभिन्न हो जाता है, जिसकी सत्ता से वह प्रकाशित है।

यह नियम है कि जिन वस्तुओं का हम सदुपयोग कर लेते हैं, उनसे सम्बन्ध-विच्छेद स्वत: हो जाता है; क्योंकि वस्तु रूप से जो भी प्राप्त है वह सदुपयोग के लिए है, उनमें आबद्ध रहने के लिए नहीं। इस दृष्टि से शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी वस्तुओं का सदुपयोग ही उनसे असङ्ग कराने में हेतु है। इन सबका सदुपयोग श्रम, संयम, सेवा आदि में निहित है और सेवा आदि का परिणाम त्याग और त्याग का फल चिर-शान्ति तथा ज्ञान एवं प्रेम है। शान्ति में सामर्थ्य, ज्ञान में नित्य-जीवन तथा प्रेम में नित-नूतन रस है, जो सभी को अभीष्ट है अथवा यों कहो कि जिसकी सबको स्वाभाविक लालसा है।

स्वतन्त्र अस्तित्व उसी का हो सकता है, जो सामर्थ्य, अमरत्व एवं रसरूप है। उसी को 'है' मानना चाहिए। उसके अतिरिक्त जिसमें सतत परिवर्तन है और जो उपयोग की दृष्टि से आदरणीय है, उसी को 'यह' जानना चाहिए। यद्यपि 'यह', 'है' की सत्ता से ही प्रकाशित है; परन्तु 'है' और 'यह' की तद्रूपता काम उत्पन्न करती है, जो बन्धन का हेतु है। उस उत्पन्न हुए काम का अन्त करने के लिए 'है' और 'यह' का विभाजन

अनिवार्य है। यह तभी सम्भव होगा, जबकि बुद्धि के द्वारा समस्त 'यह' को जानें। उसके बाद 'है' के द्वारा बुद्धि को जानें। यदि 'है' और 'यह' के मध्य में काम न रहे, तो स्वभाव से ही समस्त 'यह' बुद्धि में विलीन हो जाता है और बुद्धि सम होकर उस 'है' से अभिन्न हो जाती है, जो वास्तविक जीवन है।

काम के रहते हुए बुद्धि को मन की ओर, मन को इन्द्रियों की ओर, इन्द्रियों को विषयों की ओर गतिशील होना पड़ता है, जो वास्तव में मृत्यु है। 'है' की जिज्ञासा काम को खा लेती है, फिर 'है' से नित्य-योग स्वत: प्राप्त हो जाता है, जो चिरशान्ति, नित्य-ज्ञान तथा प्रेम का हेतु है।

नित्य-योग और संयोग में भेद है। संयोग होता है 'यह' की ओर गतिशील होने से और नित्य-योग होता है 'यह' से विमुख होकर 'है' के सम्मुख होने से। 'यह' की विमुखता 'यह' से असंग करती है और 'है' की सम्मुखता 'है' से अभिन्न करती है। संयोग 'यह' की आसक्ति उत्पन्न करता है और अभिमान में आबद्ध कर देता है तथा नित्य-योग निरभिमानतापूर्वक 'है' का प्रेम प्रदान करता है। संयोग में मृत्यु और नित्य-योग में अमरत्व निहित है।

'यह' की सेवा 'यह' को निर्मल बनाती है और 'यह' से विमुख कर 'है' से अभिन्न करती है। अत: 'यह' के अर्थ में जो कुछ है, उसकी हमें सेवा करनी है, उससे ममता नहीं। श्रम, संयम, सदाचार द्वारा समस्त 'यह' की सेवा हो जाती है। सेवा त्याग में और त्याग उस प्रेम में विलीन हो जाता है, जो अनन्त से अभिन्न करने में समर्थ है।

(26)

निर्भयता की कुन्जी

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि हमें किसी प्रकार का भी भय अपेक्षित नहीं है। जिसकी अपेक्षा नहीं है, उसको बनाए रखने में हमारी ही असावधानी हेतु है।

अब विचार यह करना है कि भय उत्पन्न ही क्यों होता है? तो कहना होगा कि भय का कारण एकमात्र अविवेक, अविश्वास तथा अकर्त्तव्य है। इन तीनों दोषों से ही भय का साम्राज्य सुरक्षित रहता है। विवेक के अनादर से अविश्वास और अविश्वास से अकर्त्तव्य का जन्म होता है, जिसका जीवन में कोई स्थान ही नहीं है अथवा यों कहो कि स्थानभेद से विवेक का अनादर ही अविश्वास और अकर्त्तव्य के रूप में बदल जाता है, क्योंकि एक ही दोष स्थान-भेद से अनेक रूप धारण कर लेता है।

जाने हुए के अनुरूप न मानना और माने हुए के अनुरूप न करना ही अविवेक, अविश्वास तथा अकर्त्तव्य है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि अविवेक, अविश्वास तथा अकर्त्तव्य अपना ही बनाया हुआ दोष है, प्राकृतिक नहीं, परिस्थितिजन्य नहीं एवं किसी और के द्वारा उत्पन्न किया हुआ नहीं। जो अपना बनाया हुआ दोष है, उसका निवारण वर्तमान में ही हो सकता है; कारण, कि जैसा जानते हैं, वैसा ही मान लेना और जैसा मान लेते हैं, वैसा ही करने लगना वर्तमान जीवन की ही वस्तु है।

अब यदि कोई यह पूछे कि अविवेक, अविश्वास और अकर्त्तव्य का स्वरूप क्या है? तो कहना होगा कि अनेक प्रकार का निर्णय ही 'अविवेक' है, अनेक विश्वासों का होना ही 'अविश्वास' है और जिसके करने पर कर्ता में करने का राग शेष रहे वही 'अकर्त्तव्य' है। एक निर्णय और एक विश्वास ही कर्त्तव्यनिष्ठ बनाने में समर्थ है अथवा यों कहो कि जो करना चाहिए, उसके करने के लिए हमें एक ही निर्णय और एक ही विश्वास की अपेक्षा है। यह तभी सम्भव होगा, जब निज ज्ञान का अनादर न करें। निज-ज्ञान का आदर करते ही अपने में से देहभाव का त्याग हो जाएगा। देहभाव का त्याग होते ही देह का विश्वास अपने विश्वास में परिणत हो जाएगा। देह का अविश्वास ही हमें सभी वस्तुओं में अविश्वास करा देता है।

यह नियम है जिस पर अविश्वास हो जाता है, उससे सम्बन्ध नहीं रहता; जिससे सम्बन्ध नहीं रहता, उसके रहने तथा न रहने में समानता आ जाती है अर्थात् उसके न रहने का भय मिट जाता है और रहने में कोई विशेषता नहीं भासती। अथवा यों कहो कि संयोग की दासता तथा वियोग का भय मिट जाता है। इस दृष्टि से शरीर आदि वस्तुएँ विश्वास करने योग्य नहीं हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि विश्वास करने योग्य क्या है? तो कहना होगा कि वस्तु आदि के रहने पर जो रहता है, अथवा जब वस्तुएँ नहीं थीं, तब जो था अथवा वस्तुएँ जिसका आश्रय पाकर प्रकाशित होती हैं—वही विश्वास करने योग्य है। जो विश्वास करने योग्य है, उस पर विश्वास करते ही अनेक विश्वास एक विश्वास में विलीन हो जाते हैं। एक विश्वास के होते ही अनेक सम्बन्ध एक सम्बन्ध में विलीन हो जाते हैं। जब अनेक सम्बन्ध एक सम्बन्ध में विलीन हो जाते हैं, तब अनेक चिन्तन मिटकर एक चिन्तन रह जाता है, जो जिज्ञासा तथा प्रिय-लालसा का रूप धारण कर लेता है। जिज्ञासा उसी की हो सकती है, जिसके जान लेने पर और कुछ जानना शेष न रहे और लालसा उसी की होती है, जो स्वभाव से ही अत्यन्त प्रिय हो अथवा जिसका किसी भी प्रकार से त्याग न किया जा सके।

इससे सिद्ध यह हुआ कि हम उसी को जानना चाहते हैं, जो हमें अत्यन्त प्रिय हो और जिसका किसी भी प्रकार से त्याग न कर सकें। इस दृष्टि से लालसा और जिज्ञासा किसी एक की ही है। लालसा तथा जिज्ञासा उसी की हो सकती है, जिससे अभिन्नता हो सके अथवा यों कहो कि जो प्राप्त हो सके। प्राप्त वही हो सकता है, जो सर्वदा तथा सर्वत्र हो। जो सर्वदा सर्वत्र है, उसी का सम्बन्ध वर्तमान जीवन से है। जिसका सम्बन्ध वर्तमान से है, उसी को वर्तमान में ही प्राप्त किया जा सकता है, जिसके प्राप्त होते ही सब प्रकार के भय स्वतः मिट जाते हैं।

एक विश्वास को सुरक्षित रखने के लिए अनेक विश्वासों का त्याग अनिवार्य है, पर यह तभी सम्भव होगा, जब हम अनेक विश्वासों की उत्पत्ति के कारण को जान लें। यदि इस समस्या पर विचार किया जाए, तो यह स्पष्ट विदित होता है कि देह-विश्वास होने पर ही देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि अनेक प्रकार के विश्वास स्वत: उत्पन्न होने लगते हैं और देह-विश्वास का अन्त होते ही ये सब अपने-आप मिट जाते हैं, क्योंकि जिसको देह पर विश्वास नहीं रहता, उसे किसी वस्तु आदि की अपेक्षा ही नहीं रहती। जिनकी अपेक्षा नहीं रहती, उन पर विश्वास करना आवश्यक नहीं रहता। अर्थात् देह-विश्वास ही अनेक विश्वासों का हेतु है। जिस पर विश्वास नहीं रहता, उससे सम्बन्ध टूट जाता है; पर उसकी सेवा का दायित्व रहता है। इस दृष्टि से शरीर सेवा का क्षेत्र है, ममता का नहीं। शरीर की सेवा में ही विश्व की सेवा निहित है; क्योंकि शरीर की सेवा करने पर शरीर विश्व के काम आने लगता है।

अब विचार यह करना है कि शरीर की सेवा का स्वरूप क्या है? तो कहना होगा कि जितेन्द्रियता, निर्विकल्पता और समता के द्वारा ही शरीर की पूर्ण सेवा हो सकती है। जितेन्द्रियता के द्वारा शरीर में शुद्धि आती है, मन की निर्विकल्पता के द्वारा सामर्थ्य आती है और बुद्धि की समता के द्वारा शान्ति आती है। शुद्धि, सामर्थ्य और शान्ति आ जाने पर सर्वहितकारी प्रवृत्तियाँ स्वत: होने लगती हैं, जो विश्व की सेवा है। शरीर और वस्तु आदि की ममता तो केवल आसक्ति ही उत्पन्न करती है, उससे न तो शरीर का हित होता है और न समाज का ही। इस दृष्टि से वस्तु आदि के प्रति ममता करने का कोई स्थान ही नहीं है।

जिनसे ममता-रहित होना है, उनकी सेवा अवश्य करनी है और जिन पर विश्वास करना है, उनसे ही प्रेम करना है, उन्हीं को अपना मानना है और उन्हीं से अभिन्न होना है। यह तभी सम्भव होगा, जब हम अचाह हो

जाएँ; क्योंकि चाह न तो प्रेम उत्पन्न होने देती है, न अपना मानने देती है और न अभिन्न होने देती है। शरीर से सम्बन्ध-विच्छेद होने पर सब प्रकार की चाह का अन्त स्वतः हो जाता है। इस दृष्टि से शरीर की सेवा में ही उनका प्रेम निहित है, जिनसे हमें अभिन्न होना है, क्योंकि समस्त विश्व उस अनन्त की ही अभिव्यक्ति है। शरीर तथा विश्व की सेवा ही 'कर्त्तव्य' का, शरीर आदि से सम्बन्ध-विच्छेद ही 'विवेक' का और जो वस्तु, अवस्था आदि से अतीत है, उससे नित्य-सम्बन्ध ही 'विश्वास' का प्रतीक है। अतः अविवेक, अविश्वास तथा अकर्त्तव्य का अन्त होने पर ही निर्भयता प्राप्त हो सकती है, जो सभी को अभीष्ट है।

(27)

आसक्ति और प्रीति का विवेचन

जीवन का अध्ययन करने पर ये दो बातें स्पष्ट प्रतीत होती हैं—किसी की आसक्ति और किसी का प्रेम। जिसमें आसक्ति प्रतीत होती है, उसमें प्रवृत्ति तो होती है, पर उसकी प्राप्ति नहीं होती और जिससे प्रेम होता है, उसकी न तो प्रतीति होती है और न उसमें प्रवृत्ति ही होती है, परन्तु उसकी प्राप्ति अवश्य होती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रेम उसी से होता है, जो प्राप्त है और आसक्ति उसी में होती है, जिसकी प्रतीति तो हो, पर प्राप्ति न हो। अब विचार यह करना है कि प्रतीति किसकी हो रही है? तो कहना होगा कि प्रतीति उसकी हो रही है, जो इन्द्रिय, मन, बुद्धि द्वारा जानने में आता है।

यह नियम है कि जो जिसके द्वारा जानने में आता है, उससे उसकी जातीय एकता तथा गुणों की भिन्नता होती है और जो जानता है वह उसकी अपेक्षा, जो जानने में आता है, से अधिक सूक्ष्म तथा विभु होता है। इस दृष्टि से इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ जाना जाता है, उसकी इन्द्रियों

से जातीय एकता है और वह इन्द्रियों की अपेक्षा स्थूल तथा सीमित है एवं जो इन्द्रियों को जानता है, वह इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक विभु और सूक्ष्म है। इस दृष्टि से यह सिद्ध होता है कि मन इन्द्रियों की अपेक्षा सूक्ष्म तथा विभु है, क्योंकि मन की प्रेरणा से ही इन्द्रियाँ कार्य करती हैं। पर जो बुद्धि मन को जानती है, वह मन की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म तथा विभु है।

समस्त सृष्टि अर्थात् दृश्य जगत् इन्द्रियों के किसी अंश में है और इन्द्रियाँ मन के किसी अंश में हैं और मन बुद्धि के किसी अंश में है; किन्तु बुद्धि उस अनन्त-नित्य-चिन्मय के किसी अंश में है, जो बुद्धि का प्रकाशक है। अब यदि कोई यह कहे कि जो बुद्धि का प्रकाशक है, उसे अनन्त, नित्य, चिन्मय क्यों स्वीकार किया जाये? तो कहना होगा कि इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि समस्त दृश्य स्वयं अपने को अपने आप प्रकाशित नहीं कर पाते। परन्तु जिसके प्रकाश से ये सब प्रकाशित हैं, वह अपने को और अपने से भिन्न बुद्धि आदि समस्त दृश्य को भी प्रकाशित कर रहा है; इससे वह नित्य और चिन्मय है। सृष्टि की किसी एक वस्तु की भी गणना नहीं हो सकती। यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी संख्या कितनी है और सीमा क्या है? जिस प्रकार किसी भी बीज के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें कितने वृक्ष विद्यमान हैं; क्योंकि एक बीज से जो वृक्ष उत्पन्न होता है, उसमें अनेकों बीज होते हैं।

इस प्रकार जब एक बीज के विस्तार की भी गणना एवं सीमा सम्भव नहीं है, तब समस्त सृष्टि की गणना तथा सीमा कैसे हो सकती है? जब सृष्टि की गणना तथा सीमा नहीं हो सकती, तो उससे सूक्ष्म जो इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि हैं, उनकी सीमा कैसे हो सकती है? जब बुद्धि आदि की ही सीमा नहीं हो सकती, तो उसके प्रकाशक की तो बात ही क्या है? अतः जो बुद्धि से अतीत है, वह अनन्त है।

बुद्धि और बुद्धि के प्रकाशक के मध्य में किसी का स्वतन्त्र अस्तित्व तो जान नहीं पड़ता। केवल यह कह सकते हैं कि जिसमें अनन्त की प्रीति

और बुद्धि आदि समस्त दृश्य की आसक्ति विद्यमान है, वह न तो दृश्य है और न दृश्य का प्रकाशक। उसे तो केवल प्रीति और आसक्ति का समूह ही कह सकते हैं। परन्तु आसक्ति-काल में प्रीति का दर्शन नहीं होता और जब प्रीति जाग्रत होती है, तब आसक्ति का कोई अस्तित्व नहीं रहता। अत: उसे प्रीति और आसक्ति का समूह कहना भी युक्तिसंगत नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि दृश्य की ओर गतिशील होने में आसक्ति भासती है और दृश्य से विमुख होते ही प्रीति। इस प्रीति और आसक्ति के द्वन्द्व का निवारण ही जीवन का उद्देश्य है। उसकी पूर्ति तभी सम्भव हो सकती है, जब आसक्ति मिटकर प्रीति से अभिन्न हो जाए।

अब यदि कोई यह कहे कि प्रीति ही आसक्ति से अभिन्न क्यों न हो जाये? तो कहना होगा कि यह सम्भव नहीं है, क्योंकि आसक्ति का सम्बन्ध उससे है, जिसकी नित्य स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और प्रीति का सम्बन्ध उससे है, जिसकी नित्य स्वतन्त्र सत्ता है। अत: प्रीति आसक्ति में विलीन नहीं हो सकती, अपितु आसक्ति ही प्रीति से अभिन्न हो सकती है। इस दृष्टि से आसक्ति की निवृत्ति और प्रीति की जागृति ही वास्तविक साधना है।

'आसक्ति' पराधीनता और जड़ता में आबद्ध करती है, किन्तु 'प्रीति' स्वाधीनता तथा नित्य-चिन्मय जीवन की ओर गतिशील करती है। यह सभी को मान्य होगा कि परतन्त्रता और जड़ता में आबद्ध रहना किसी को अभीष्ट नहीं है, अपितु स्वाधीनता, चिन्मयता, दिव्यता आदि सभी को स्वभाव से ही प्रिय है। अत: स्वाभाविक प्रियता की जागृति ही आसक्ति का अन्त करने में समर्थ है। परतन्त्रता की वेदना ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थाई होती जाती है, त्यों-त्यों स्वाभाविक प्रियता स्वत: जाग्रत होने लगती है।

इस दृष्टि से परतन्त्रता की वेदना ही हमें उस अनन्त की दिव्य-चिन्मय प्रीति से अभिन्न करने में समर्थ है। पराधीनता को ही जीवन मान लेने से

आसक्ति पुष्ट होती है। पराधीनता की वेदना जाग्रत होने पर आसक्ति मिटती जाती है और प्रीति सबल होती जाती है। आसक्ति अहंभाव को पुष्ट करती है और प्रीति अहंभाव को अपने ही में विलीन कर लेती है, क्योंकि प्रीति और प्रीतिकर्ता का विभाजन नहीं हो सकता। प्रीति जिसकी है उसको रस प्रदान करती है और आसक्ति जिसमें होती है उससे सुख की आशा कराती है। इस दृष्टि से प्रीति दाता और आसक्ति भिखारी बनाती है, अथवा यों कहो कि आसक्ति पराधीन और प्रीति स्वाधीन बनाती है। आसक्ति कोई भी ऐसी नहीं होती, जिससे अरुचि न हो, किन्तु प्रीति नित-नव रुचि जाग्रत करती है। उसमें कभी अरुचि नहीं होती; क्योंकि प्रीति अनन्त, नित्य और चिन्मय है, किन्तु आसक्ति अनित्य, जड़ और सीमित है। आसक्ति की निवृत्ति होती है, परन्तु प्रीति की नित-नव वृद्धि होती है। क्योंकि प्रीति तो उस अनन्त का स्वभाव है और आसक्ति प्रमाद का परिणाम है। प्रमाद-रहित होते ही आसक्ति सदा के लिए मिट जाती है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि प्रमाद की निवृत्ति कैसे हो? तो कहना होगा कि प्रमाद को प्रमाद जान लेने पर ही उसकी निवृत्ति स्वतः हो जाती है। जिसे 'यह' कहते हैं, उसको 'मैं' मान लेना वास्तव में प्रमाद है। 'यह', 'मैं' नहीं है, ऐसा जानते ही प्रमाद मिट जाता है। 'यह' का अर्थ है, जो अपने को अपने-आप प्रकाशित न कर सके। इस दृष्टि से समस्त दृश्य, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि 'यह' के अर्थ में आ जाते हैं। अतः जो अपने को बुद्धि आदि से विमुख कर लेता है, उसका प्रमाद स्वतः मिट जाता है। प्रमाद के मिटते ही अहंभाव अनन्त-नित्य-चिन्मय की प्रीति हो जाता है। उसके बाद प्रीति तथा प्रियतम से भिन्न कुछ शेष नहीं रहता। इस दृष्टि से आसक्ति की निवृत्ति और प्रीति की जागृति ही वास्तविक जीवन है।

(28)

सुख की आशा के त्याग में ही विकास

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि सब प्रकार की असफलता का कारण एकमात्र सुख की आशा है; कारण, कि सुख-भोग की आशा सुख-भोग से भी अधिक भयंकर दोष है; क्योंकि सुख-भोग से अरुचि स्वाभाविक होती है, पर सुख की आशा उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। सुख की आशा का जन्म ममता से होता है, क्योंकि जिसे हम अपना मान लेते हैं, उसी से सुख की आशा करते हैं अथवा यों कहो कि सुख की आशा ही हमें अधिकार-लालसा में आबद्ध कर देती है, जिसके समान और कोई परतन्त्रता नहीं है। इतना ही नहीं, अधिकार-लालसा रहते हुए अपने अस्तित्व की सिद्धि ही नहीं हो सकती, क्योंकि जिनके द्वारा अधिकार सुरक्षित होता है, उनके अस्तित्व की सिद्धि होती है और जो अधिकार माँगता है, उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध नहीं होता।

यह सभी को मान्य होगा कि सुख की आशा रहते हुए न कोई सेवा कर सकता है और न प्रेम। सेवा के बिना भौतिक विकास नहीं हो सकता और प्रेम के बिना वास्तविक जीवन नहीं मिल सकता। अब यदि कोई यह कहे कि सुख की आशा के आधार पर ही तो माँ शिशु की सेवा करती है और प्रेम देती है एवं सुख की आशा के आधार पर ही पारस्परिक सेवा और प्रेम का आदान-प्रदान होता है। तो पूछना होगा कि यदि सुख की आशा के आधार पर प्रेम होता है, तो मोह किसके आधार पर होता है? और यदि सुख की आशा के आधार पर ही पारस्परिक सेवा का आदान-प्रदान निर्भर है, तो फिर स्वार्थभाव किस पर निर्भर है?

प्रेम में तो अपने आपको मिटाना होता है और सेवा के लिए अपना सब कुछ देना होता है। जो अपने आपको मिटा नहीं सकता, वह प्रेम नहीं

कर सकता और जो अपना सर्वस्व दे नहीं सकता, वह सेवा नहीं कर सकता। सेवा का अन्त त्याग में है, सुख की आशा में नहीं, और प्रेम अपने आपको देने में है, कुछ माँगने में नहीं। सुख की आशा के आधार पर की हुई सेवा 'भोग' में बदल जाती है जिसकी पूर्ति होने पर राग और अपूर्ति होने पर द्वेष उत्पन्न होता है। द्वेष संघर्ष और राग बन्धन उत्पन्न करता है, जिसमें सभी का अहित है।

अत: संघर्ष तथा बन्धन का अन्त तभी सम्भव है, जब सुख की आशा से रहित सेवा की जाए। इस दृष्टि से सेवक के जीवन में सुख की आशा का कोई स्थान ही नहीं है। इतना ही नहीं, सेवक का हृदय तो करुणा के रस से और प्रसन्नता से भरपूर रहता है। वहाँ भला सुख की आशा कैसे ठहर सकती है?

अब विचार यह करना है कि प्रेम-प्राप्ति में सुख की आशा बाधक क्यों है? तो कहना होगा कि सुख की आशा अहंभाव को पुष्ट और देहाभिमान को उत्पन्न करती है। प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश करने के लिए सब प्रकार के अभिमान का अन्त करके अपने आपको मिटाना पड़ता है, क्योंकि प्रेम भेद तथा दूरी सहन नहीं कर सकता। अभिमान रहते हुए भेद मिट नहीं सकता और अहं के रहते हुए दूरी नहीं मिट सकती। दूरी मिटाने के लिए अहं का अन्त करना होगा और भेद मिटाने के लिए अभिमान रहित होना होगा। यह तभी सम्भव होगा, जब सुख की आशा सदा के लिए मिटा दी जाए। इस दृष्टि से सुख की आशा प्रेम-प्राप्ति में बाधक है।

सेवा और प्रेम की तो कौन कहे, पारस्परिक एकता भी सुख की आशा के कारण सुरक्षित नहीं रह सकती; क्योंकि सुख की आशा से मिलना अलग होने का हेतु है। अब यदि कोई यह कहे कि सुख की आशा को लेकर मिलना अलग होने की तैयारी क्यों है? तो कहना होगा कि यदि सुख की आशा पूरी हो गई, तो सुख से सम्बन्ध हो जाएगा और जिसके

द्वारा पूरी हुई, उससे सुख-भोग-काल में सम्बन्ध नहीं रहेगा। यदि सुख की आशा पूरी न हुई, तो क्रोध उत्पन्न होगा, जो एकता नहीं रहने देगा। अत: सुख की आशा की पूर्ति और अपूर्ति दोनों में ही पारस्परिक भिन्नता अनिवार्य है। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि सुख की आशा से मिलना अलग होने की तैयारी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

सुख की आशा ने ही तीव्र जिज्ञासा तथा प्रिय-लालसा जाग्रत नहीं होने दी। यदि हम सुख की आशा में आबद्ध न होते, तो सन्देह की वेदना अथवा प्रिय-लालसा की जागृति जीवन की वस्तु हो जाती है। यह नियम है कि जिसका सम्बन्ध वर्तमान जीवन से हो जाता है, उसके लिए व्याकुलता तथा जिज्ञासा स्वत: जाग्रत होती है। सुख की आशा हमें वर्तमान का उपयोग नहीं करने देती अथवा यों कहो कि वस्तुस्थिति का परिचय नहीं होने देती, जिसके बिना जो करना चाहिए, उसे हम कर नहीं पाते और जो नहीं करना चाहिए, उसमें आबद्ध हो जाते हैं।

इस दृष्टि से सुख की आशा समस्त असफलताओं का हेतु है। जिज्ञासु को तत्त्व-ज्ञान से, योगी को योग से और प्रेमी को प्रेमास्पद से सुख की आशा ने ही अभिन्न नहीं होने दिया। इतना ही नहीं, सुख की आशा ही अमरत्व से मृत्यु की ओर गतिशील करती है। अत: सुख की आशा रहते हुए हम अमर नहीं हो सकते, जो हमारी स्वाभाविक माँग है। इस दृष्टि से सुख की आशा का त्याग ही विकास का मूल है।

(29)

पर-चर्चा से हानि

वस्तुस्थिति का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि प्राप्त सामर्थ्य, योग्यता और समय का बहुत बड़ा भाग पर-चर्चा में लग जाता है, जिससे बड़ी हानि यह होती है कि जिस आवश्यक कार्य के लिए

सामर्थ्य, समय आदि मिले थे, वह पूरा नहीं हो पाता। यह नियम है कि आवश्यक कार्य पूरा न होने से और अनावश्यक कार्य करने से अशान्ति, भय, चिन्ता आदि अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं अथवा यों कहो कि जीवन का अनादर हो जाता है, जो अवनति का मूल है।

जीवन का आदर बड़े ही महत्त्व की वस्तु है; क्योंकि जीवन के आदर में ही साधन का निर्माण और साधन के निर्माण में ही साध्य की उपलब्धि निहित है। वर्तमान परिवर्तनशील जीवन नित्य, चिन्मय, दिव्य जीवन-प्राप्ति का साधन है और कुछ नहीं।

साधन-सामग्री का अपव्यय साधक को सफलता से विमुख करता है। अतः साधन-सामग्री का सद्व्यय करने के लिए साधक को सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए। वह तभी सम्भव होगा, जब पर-चर्चा का त्याग कर दिया जाए। पर-चर्चा का त्याग करते ही प्रिय-चर्चा स्वतः होने लगती है, जो प्रेम के प्रादुर्भाव में हेतु है। प्रेम का प्रादुर्भाव प्रेमास्पद से अभिन्न करने में समर्थ है।

अब विचार यह करना है कि 'पर' और 'प्रिय' में क्या भेद है? 'पर' उसे कहते हैं, जिसका त्याग स्वाभाविक है और 'प्रिय' उसे कहते हैं, जिससे नित्य-योग स्वाभाविक है अथवा यों कहो कि 'पर' उसे कहते हैं, जिससे जातीय तथा स्वरूप की भिन्नता हो और 'प्रिय' उसे कहते हैं, जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता हो। जिससे एकता है, उसी की चर्चा रसरूप होती है अथवा यों कहो कि रस का उत्पादन करती है। जिससे जातीय भिन्नता है, उसकी चर्चा तो केवल राग-द्वेष में ही आबद्ध करती है।

'राग' पराधीनता को तथा 'द्वेष' क्रोध, ईर्ष्या और हिंसा आदि अनेक दोषों को उत्पन्न करता है अर्थात् राग-द्वेष के रहते हुए दिव्य-जीवन प्राप्त नहीं हो सकता, जिसके बिना जीवन की सार्थकता ही सिद्ध नहीं हो सकती। इस दृष्टि से पर-चर्चा बड़ा ही भयंकर दोष है।

पर-चर्चा से तो अनेक दोष उत्पन्न होते हैं, किन्तु पर-सेवा से बहुत लाभ होता है; कारण, कि प्राकृतिक नियमानुसार दूसरों के प्रति जो कुछ किया जाता है, वह कई गुना अधिक होकर स्वयं अपने प्रति हो जाता है। इस दृष्टि से दूसरों की सेवा में अपना हित है। सेवा स्वार्थभाव को मिटा देती है, जिसके मिटते ही निष्कामता आ जाती है; उसके आते ही देहाभिमान गल जाता है और फिर बड़ी ही सुगमतापूर्वक अपने ही में अपने वास्तविक जीवन का अनुभव हो जाता है।

इतना ही नहीं, सेवा द्वारा भौतिक विकास भी स्वतः होता है; कारण, कि सेवा सेवक को विभु बना देती है अर्थात् सेवक समाज के हृदय में निवास करता है; क्योंकि सेवक में निर्वैरता स्वभाव से ही आ जाती है। निर्वैरता के आते ही निर्भयता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुण स्वतः आने लगते हैं।

अब विचार यह करना है कि सेवा का स्वरूप क्या है? सेवा दो प्रकार की होती है—एक बाह्य और एक आन्तरिक। बाह्य सेवा का अर्थ है—प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि के द्वारा बिना किसी प्रत्युपकार की भावना के सर्वहितकारी कार्य करना। पर यह तभी सम्भव होगा, जब हम प्राप्त वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि को अपनी न मानें, अपितु उसी की मानें, जिसकी सेवा का सुअवसर मिला है; क्योंकि सृष्टि एक है, उससे भेद करना प्रमाद है।

अब यदि कोई यह कहे कि जब कोई वस्तु अपनी है ही नहीं और उसकी है, जिसकी सेवा करते हैं, तब उसके नाम पर सेवा कैसे हो सकती है? तो कहना होगा कि बाह्य सेवा जिन साधनों से की जाती रही है, यद्यपि वे साधन एक ही सृष्टि के हैं और जिनकी सेवा की जा रही है, वे भी सृष्टि के ही अन्तर्गत हैं, तो भी जिस प्रकार शरीर के अवयव परस्पर में एक-दूसरे की सेवा करते हैं, उसी प्रकार सृष्टि से प्राप्त साधनों के द्वारा ही सृष्टि की सेवा की जा सकती है।

हाँ, यह अवश्य है कि जब सेवा द्वारा भेद गल जाता है, तब 'करना' स्वत: 'होने' में बदल जाता है और आन्तरिक सेवा स्वत: होने लगती है। आन्तरिक सेवा के लिए किसी बाह्य प्रवृत्ति की अपेक्षा नहीं है। उसमें तो सर्वहितकारी भाव विभु होकर सभी को सब कुछ प्रदान करता है, उसके भाव के अनुरूप आवश्यक वस्तु आदि स्वत: प्राप्त होने लगती हैं। सर्वहितकारी भाव, सर्वात्मभाव प्रदान करता है अर्थात् सभी में सेवक अपने ही को अनुभव करता है। फिर सेवक, सेवा और सेव्य में अभिन्नता हो जाती है। यही सेवा की पराकाष्ठा है।

समस्त विश्व के साथ एकता का भाव आते ही विश्व से अतीत जो विश्व का प्रकाशक है, उसकी जिज्ञासा तथा लालसा स्वत: जाग्रत होती है। जिसकी जिज्ञासा तथा लालसा जाग्रत होती है, उसकी चर्चा करनी चाहिए; कारण, कि जिसकी चर्चा होने लगती है, उसका चिन्तन होने लगता है और जिसका चिन्तन होने लगता है, उसमें अनुरक्ति हो जाती है, जो समस्त आसक्तियों को खाकर उस अनन्त से अभिन्न कर देती है। इस दृष्टि से चर्चा करने योग्य वही है, जिसकी जिज्ञासा तथा लालसा है। उसी से हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता भी है। उसी की चर्चा प्रिय की चर्चा है। उसके नाते ही शरीर आदि वस्तुओं द्वारा विश्व की सेवा की जा सकती है। अथवा यों कहो कि समस्त विश्व में उसका ही दर्शन किया जा सकता है।

जब समस्त विश्व में उस अनन्त का ही दर्शन होने लगता है, तब पर-सेवा, 'प्रिय-सेवा' के रूप में बदल जाती है। फिर प्रिय-सेवा प्रीति के स्वरूप में बदलकर अर्थात् केवल प्रीति होकर उस अनन्त को रस प्रदान करती है, जो दिव्य तथा चिन्मय है। अनन्त की प्रीति भी अनन्त की भाँति ही दिव्य तथा चिन्मय है। अथवा यों कहो कि प्रीति और प्रियतम में केवल प्रेम का ही आदान-प्रदान है, जो रसरूप और नित-नव है। इस दृष्टि से सेवा, प्रीति की जागृति का हेतु है।

पर-चर्चा का अर्थ है—वस्तु, व्यक्ति आदि की चर्चा और पर-सेवा का अर्थ है—प्राप्त वस्तु आदि के द्वारा सर्वहितकारी कार्य करना। उसका फल है—वस्तु आदि की आसक्ति का न रहना। वस्तु आदि की आसक्ति के मिटते ही वस्तुओं से अतीत के जीवन की जिज्ञासा जाग्रत होती है, जो भोगेच्छाओं को खाकर स्वतः पूरी हो जाती है। उसकी पूर्ति में ही अमर जीवन निहित है।

इस दृष्टि से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि प्राप्त योग्यता, सामर्थ्य और वस्तु के द्वारा प्राणिमात्र की सेवा करना तो आवश्यक है, पर उनकी चर्चा के लिए कोई स्थान नहीं है। अतः पर-चर्चा का त्याग करके पर-सेवा द्वारा हमें अपनी जिज्ञासा तथा लालसा की पूर्ति कर लेनी चाहिए।

(30)

सफलता की कुन्जी

जीवन के अध्ययन तथा वर्तमान दशा के परिचय में ही साधन-निर्माण निहित है, जो सिद्धि का हेतु है। साधन का निर्माण और साध्य का निर्णय वर्तमान दशा के ज्ञान से ही सम्भव है। वर्तमान के अभाव-दर्शन और असन्तोष से ही हम अपने साध्य को जान सकते हैं; क्योंकि वर्तमान का अभाव-दर्शन ही भविष्य की उपलब्धि में और असन्तोष ही वर्तमान दशा के परिवर्तन में हेतु है। अभाव का ज्ञान पूर्णता की जिज्ञासा जाग्रत करता है; क्योंकि अभाव किसी को भी स्वभाव से अभीष्ट नहीं है। अतः स्पष्ट हो जाता है कि अभाव का ज्ञान साध्य का निर्णय कराने में समर्थ है। असन्तोष की व्यथा प्रयत्नशीलता का पाठ पढ़ाती है और प्राप्त योग्यता तथा सामर्थ्य का सदुपयोग कराने में समर्थ होती है।

इस दृष्टि से असन्तोष और अभाव का परिचय ही हमें वास्तविक जीवन की ओर गतिशील करता है। पर कब? जब अभाव तथा असन्तोष

का कारण किसी और को न मानें, अपितु यह जान लें कि अभाव अनित्य जीवन का स्वरूप है और असन्तोष उत्कृष्टता की लालसा है। लालसा उसी की होती है, जिसका अस्तित्व नित्य हो। अभाव का ज्ञान किसी भाव की सिद्धि में हेतु है; क्योंकि अभाव का अभाव होना अनिवार्य है।

साधन-तत्त्व बीज रूप से साधक में विद्यमान है और साध्य से भी देश-काल की दूरी नहीं है। इस दृष्टि से साधक, साधन और साध्य सर्वदा अभिन्न हो सकते हैं, अर्थात् साधक साधन द्वारा साध्य को सुगमतापूर्वक प्राप्त कर सकता है। साध्य की उपलब्धि वर्तमान जीवन की वस्तु है, उससे निराश होना भूल है; अपितु साधक के जीवन में साध्य के लिए नित-नव उत्कण्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती रहनी चाहिए।

यह नियम है कि जो वर्तमान जीवन की वस्तु होती है, उसके लिए नित-नव उत्कण्ठा स्वाभाविक उत्पन्न होती है। हमसे सबसे बड़ी भूल यही होती है कि जिसका सम्बन्ध वर्तमान जीवन से है, उसके लिए भविष्य की आशा करते हैं और जिसका सम्बन्ध वर्तमान से नहीं है, जैसे, अप्राप्त परिस्थिति, उसका वर्तमान में चिन्तन करते हैं।

चिन्तन से कोई परिस्थिति प्राप्त नहीं होती; क्योंकि प्रत्येक परिस्थिति कर्म का परिणाम है। जिसकी प्राप्ति कर्म-सापेक्ष है, उसकी प्राप्ति वर्तमान में नहीं हो सकती। परन्तु हम अप्राप्त परिस्थितियों के चिन्तन में आबद्ध होकर प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं कर पाते; इसलिए सार्थक-चिन्तन का उदय भी नहीं हो पाता, जिसके बिना साधन-निर्माण असम्भव हो जाता है; कारण, कि प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग और सार्थक-चिन्तन ही साधन के मुख्य अंग हैं। प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग में परतन्त्रता नहीं है और सार्थक-चिन्तन में किसी प्रकार का श्रम नहीं है। अतः साधन में न तो परतन्त्रता है और न श्रम अर्थात् साधन करना सहज तथा स्वाभाविक है।

अब विचार यह करना है कि जब साधन सहज और स्वाभाविक है, तब हम उसे क्यों नहीं प्राप्त कर पाते ? तो कहना होगा कि हम अपने जीवन का अध्ययन बिना किए और वर्तमान दशा को बिना जाने साधन करने का प्रयास करते हैं, जो अस्वाभाविक है। इसी कारण न तो साधक को साधन रुचिकर होता है और न साधन के प्रति निस्सन्देहता होती है। अरुचि और सन्देहयुक्त साधन से सिद्धि सम्भव ही नहीं है।

हमें साध्य से निराश नहीं होना है, अपितु साधन का निर्माण करना है। यह तभी सम्भव होगा, जब हम 'क्या करें', इस को भूल जाएँ और जो कर सकते हैं, उसे करने लग जाएँ। जो कर सकते हैं, उसके करने से राग निवृत्त हो जाता है तथा जो करना चाहिए, उसकी योग्यता और सामर्थ्य आ जाती है। जब तक साधक की साध्य से अभिन्नता नहीं होती, तब तक सतत रूप से यह क्रम चलता ही रहता है अर्थात् साधक साधन होकर साध्य की ओर गतिशील होता रहता है।

अब यदि कोई यह कहे कि हम से तो कुछ भी नहीं हो सकता। तो कहना होगा कि जो कुछ भी नहीं कर सकता है, उससे वह भी तो नहीं हो सकता, जो नहीं करना चाहिए। जो नहीं करना चाहिए, उसके न करने से, जो करना चाहिए, वह स्वतः होने लगता है। इस दृष्टि से भी निर्बल से निर्बल प्राणी भी साधन कर सकता है। अतः हमसे साधन नहीं हो सकता—यह कहना उसी समय तक सम्भव है, जब तक हम साधन नहीं करना चाहते। साधन की रुचि में साधन करने की सामर्थ्य निहित है। अतः साधन न कर सकने की बात कहना अपने आपको धोखा देना है।

प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग और सार्थक चिन्तन—ये दोनों बातें ही साधन-निर्माण में हेतु हैं। परिस्थिति का सदुपयोग सभी को अभीष्ट है। पर विचार यह करना है कि परिस्थिति का सदुपयोग हम किसी अप्राप्त परिस्थिति के लिए कर रहे हैं अथवा परिस्थितियों से अतीत होने के लिए ?

परिस्थिति का सदुपयोग यदि अप्राप्त परिस्थिति के लिए कर रहे हैं तो समझना चाहिए कि अभी हम उस जीवन को नहीं चाहते हैं, जो नित्य है; क्योंकि सभी परिस्थितियाँ स्वभाव से ही परिवर्तनशील हैं। जो परिवर्तनशील है, उससे हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं हो सकती। जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता नहीं हो सकती, वह हमारा वास्तविक जीवन नहीं हो सकता।

इस दृष्टि से परिस्थितियों से अतीत का जीवन ही हमारा जीवन हो सकता है। हाँ, यह अवश्य है कि परिस्थिति का सदुपयोग राग-निवृत्ति में हेतु हो सकता है। पर कब? जब हमारा उद्देश्य परिस्थिति के सदुपयोग में तो हो, पर परिस्थिति में जीवन-बुद्धि न हो। यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है; पर हम उसे साधन-सामग्री न मान कर उससे ममता कर लेते हैं। उसका परिणाम यह होता है जो परिस्थिति राग मिटाने के लिए मिली थी, वह नवीन राग उत्पन्न करने का हेतु बन जाती है। उस समय हम परिस्थिति को ही जीवन मान लेते हैं, जो वास्तव में अविवेक सिद्ध है।

सार्थक-चिन्तन का उदय दो प्रकार से होता है—निस्सन्देहता प्राप्त करने की रुचि से और अविचल प्रेम पाने तथा देने की लालसा से अथवा यों कहो कि सार्थक-चिन्तन निस्सन्देहता और प्रेम-प्राप्ति के लिए ही अभीष्ट है; उसे किसी वस्तु, अवस्था आदि में आबद्ध नहीं करना चाहिए। क्योंकि वस्तु, अवस्था आदि का चिन्तन निरर्थक-चिन्तन है। जब साधक ममता-रहित होकर परिस्थिति का सदुपयोग करने लगता है, तब प्रत्येक कार्य के अन्त में स्वभाव से ही जिज्ञासा, स्थिरता अथवा प्रीति उदय होती है। जिज्ञासा सभी भोगेच्छाओं को खाकर उस परम तत्त्व से अभिन्न कर देती है, जिसकी जिज्ञासा थी। स्थिरता सबल तथा स्थाई होकर चिरशान्ति में बदल जाती है और अमरत्व से अभिन्न कर देती है। प्रीति व्यक्तित्व के

मोह को गलाकर दिव्य तथा चिन्मय होकर अनन्त को आह्लादित करने में समर्थ होती है अथवा यों कहो कि प्रीति प्रियतम की सत्ता से ही प्रियतम को रस प्रदान करती है।

प्रत्येक कार्य के अन्त में स्वभाव से ही आने वाली शान्ति यदि सुरक्षित बनी रहे अर्थात् व्यर्थ-चिन्तन से भंग न हो, तो अपने-आप विचार का उदय होता है, जिससे कामनाओं की निवृत्ति तथा जिज्ञासा की पूर्ति एवं प्रेम की प्राप्ति स्वत: हो जाती है। अत: शान्ति को सुरक्षित रखने के लिए निर्मोहतापूर्वक दूसरों के अधिकारों की रक्षा और अपने अधिकार का त्याग करते हुए प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना होगा।

साधन-निर्माण करने के लिए साधक को सबसे प्रथम स्वभाव से ही उत्पन्न होने वाले संकल्पों को देखना होगा। जिस प्रकार हम पृथ्वी में उगते और मिटते हुए पौधों को अथवा खिलते और मुर्झाते हुए पुष्पों को देखते हैं, उसी प्रकार हमें मन में उत्पन्न होने और मिटने वाले संकल्पों को देखना तो चाहिए, परन्तु उनके साथ न तो सहयोग करना चाहिए और न उनसे भयभीत होना चाहिए। यदि उन संकल्पों में कोई ऐसे हैं कि जिनकी पूर्ति के बिना हम किसी प्रकार नहीं रह सकते, जिनका सम्बन्ध वर्तमान से है एवं जिनकी पूर्ति में किसी का अहित नहीं है, तो उनकी पूर्ति में कोई संकोच नहीं करना चाहिए। परन्तु उन संकल्पों की पूर्ति के सुख से असङ्ग रहना चाहिए। ऐसा करने से अनावश्यक संकल्प उत्पन्न होकर स्वत: मिट जाएँगे और आवश्यक संकल्प पूरे होकर मिट जाएँगे।

संकल्पों के मिटते ही निर्विकल्पता आ जाएगी और वर्तमान अवस्था संकल्प-पूर्ति एवं संकल्प-निवृत्ति के रूप में प्रतीत होगी अथवा यों कहो कि संकल्प-निवृत्ति की शान्ति प्राप्त होगी; किन्तु अपने को उस सुख-शान्ति में भी सन्तुष्ट नहीं होना है अर्थात् सुख-शान्ति से अतीत की ओर गतिशील होना है। वह तभी सम्भव होगा, जब संकल्प की पूर्ति एवं संकल्प की

निवृत्ति से जीवन से अतीत के जीवन की जिज्ञासा और लालसा जाग्रत हो।

संकल्प की उत्पत्ति, पूर्ति और निवृत्ति—ये तीनों ही अवस्थाएँ हैं, जीवन नहीं। जो साधक संकल्प की उत्पत्ति के दु:ख, पूर्ति के सुख एवं निवृत्ति की शान्ति में अपने को आबद्ध नहीं करता, वही अवस्थाओं से अतीत के जीवन की जिज्ञासा तथा लालसा कर सकता है। प्रत्येक अवस्था स्वभाव से ही परिवर्तनशील तथा अपूर्ण है। इस दृष्टि से पूर्णता की जिज्ञासा एवं लालसा जाग्रत होना अनिवार्य है। परन्तु अवस्थाओं की तद्रूपता ही हमें अवस्थाओं से अतीत की ओर गतिशील नहीं होने देती। यद्यपि अवस्थाओं का ज्ञाता अवस्थाओं से सर्वदा अतीत है, परन्तु अवस्थाओं से मानी हुई एकता के कारण हम उनसे तद्रूप हो जाते हैं, जो वास्तव में अविवेक है।

यह अवश्य है कि मानी हुई एकता कितनी ही सबल तथा स्थाई क्यों न हो, किन्तु जिससे हमारी जातीय तथा स्वरूप की एकता है, उसकी जिज्ञासा और लालसा को मिटा नहीं सकती। जिसकी जिज्ञासा तथा लालसा मिटाई नहीं जा सकती, उसकी पूर्ति अनिवार्य है; और मानी हुई एकता सर्वदा सुरक्षित नहीं रह सकती; अत: उसकी निवृत्ति अनिवार्य है अथवा यों कहो कि मानी हुई एकता की निवृत्ति में ही उसकी प्राप्ति निहित है, जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता है।

मानी हुए एकता की निवृत्ति के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम उन संकल्पों को पूरा करें, जिनमें दूसरों का हित तथा प्रसन्नता निहित है और उन संकल्पों का अन्त कर दें, जो सुख-भोग की आसक्ति उत्पन्न करने में हेतु हैं। अथवा यों कहो कि सुख-भोग की आसक्ति दूसरों के हित तथा प्रसन्नता की प्रियता में विलीन हो जाए। ऐसा होते ही सब प्रकार के राग का अन्त हो जाएगा। राग-रहित होते ही मन में निर्मलता, चित्त में प्रसन्नता, हृदय में निर्भयता और बुद्धि में समता स्वत: आ जाएगी। फिर

तो अप्रयत्न ही प्रयत्न हो जाएगा, जो जिज्ञासा की पूर्ति एवं प्रेम की प्राप्ति कराने में समर्थ है।

साधक जो साधन करने में अपने को असमर्थ पाता है, उसका एकमात्र कारण यह है कि उसने साधन-निर्माण करते समय इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि उसका साधन उसकी योग्यता, रुचि, विश्वास एवं प्रियता के अनुरूप है या नहीं। साधक को उसी साधन से सिद्धि हो सकती है, जो उसे रुचिकर हो, जिसके प्रति अविचल विश्वास हो एवं जिसके करने की योग्यता हो। अतः साधक की योग्यता, रुचि, प्रियता एवं विश्वास के अनुरूप निर्मित साधन करने में न तो असमर्थता ही है और न असफलता ही। इस दृष्टि से किसी भी साधक को साधन-निर्माण तथा साध्य की प्राप्ति से निराश नहीं होना चाहिए, अपितु वर्तमान में ही साधन-निर्माण कर सिद्धि प्राप्ति करने के लिए नित-नव उत्कण्ठा जाग्रत करनी चाहिए। यही सफलता की कुन्जी है।

(31)

विश्राम की महिमा

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि निर्बलताओं का अन्त, आवश्यक सामर्थ्य की प्राप्ति और लक्ष्य से अभिन्नता विश्राम में ही निहित है। इस दृष्टि से विश्राम निर्बल का बल तथा सफलता के लिए अचूक अस्त्र है। इतना ही नहीं, जब सभी प्रयास असफल हो जाते हैं, तब विश्राम से सफलता होती है। इस दृष्टि से विश्राम अन्तिम साधन है। पर उसकी प्राप्ति तभी सम्भव है, जब सुख-लोलुपता तथा दुःख का भय शेष न रहे; क्योंकि सुख की दासता तथा दुःख का भय ही विश्राम की अभिव्यक्ति नहीं होने देता।

अब विचार यह करना है कि सुख की दासता तथा दुःख का भय कब्र तक जीवित रहता है? तो कहना होगा कि जब तक हम अपने संकल्पों

की पूर्ति चाहते हैं। संकल्पों की पूर्ति कब तक चाहते हैं? जब तक अपने को देह में आबद्ध रखते हैं। देह में आबद्ध कब तक रखते हैं? जब तक सभी मान्यताओं से अतीत के जीवन का अनुभव नहीं कर लेते हैं। कोई भी प्राणी अपने को केवल 'देह' मानकर कभी भी भोग की वासनाओं से रहित नहीं हो सकता और उसके बिना निःसंकल्पता आ नहीं सकती। निःसंकल्पता के बिना सुख की दासता और दुःख का भय मिट नहीं सकता।

इस दृष्टि से भोग-वासनाओं का त्याग ही द्वन्द्वात्मक जीवन से रहित होने का मुख्य साधन है। द्वन्द्वात्मक जीवन का अन्त होते ही पूर्ण विश्राम स्वतः मिल जाता है, जिसके मिलते ही नित्य-योग हो जाता है, जो जिज्ञासा-पूर्ति तथा प्रेम-प्राप्ति में हेतु है। जिज्ञासा-पूर्ति से अमरत्व और प्रेम-प्राप्ति से अगाध अनन्त रस की उपलब्धि होती है। अतएव लक्ष्य से अभिन्न होने के लिए विश्राम अत्यन्त आवश्यक है।

अब विचार यह करना है कि विश्राम की उपलब्धि कैसे हो? तो कहना होगा कि प्रत्येक दशा में क्षोभ रहित होने से ही यथेष्ट विश्राम मिल सकता है। हम क्षोभरहित तभी हो सकते हैं, जब हमारी दृष्टि वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि के सतत परिवर्तन पर लगी रहे अर्थात् अनुकूलता तथा प्रतिकूलता सदैव नहीं रहेगी, यह अनुभूति जीवन बन जाए। अनुभूति के आदर के बिना साधन-निर्माण सम्भव नहीं है। इस कारण अनुभूति का आदर अत्यन्त अनिवार्य है, क्योंकि अनुभूति ही साधक के पथ-प्रदर्शन में हेतु है।

विश्राम का स्वरूप क्या है? विश्राम आलस्य नहीं है, अकर्मण्यता नहीं है, क्योंकि आलस्य और अकर्मण्यता से तो प्राणी व्यर्थ-चिन्तन तथा जड़ता में आबद्ध हो जाता है और विश्राम व्यर्थ-चिन्तन-रहित होने पर तथा जड़ता से अतीत होने पर ही सम्भव है। विश्राम वह जीवन है, जिससे सभी क्रियाएँ उदित होती हैं अथवा जिसमें सभी क्रियाएँ विलीन होती हैं, अर्थात् क्रियाशीलता का उद्‌गम-स्थान भी विश्राम है और उसका लयस्थान भी विश्राम ही है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि समस्त कर्मों की भूमि भी विश्राम ही है। अत: विश्राम से प्राणी अकर्मण्य तथा आलसी नहीं हो सकता। जिस प्रकार अचल हिमालय से ही अनेक नदियाँ निकलती हैं और सभी नदियाँ जाकर उसी समुद्र में विलीन होती हैं, जो अपनी मर्यादा में ही प्रतिष्ठित है, उसी प्रकार समस्त प्रवृत्तियों का उद्‌गम स्थान भी विश्राम है और समस्त प्रवृत्तियों का अन्त भी विश्राम में ही निहित है।

विश्राम जड़-तत्त्व नहीं है; क्योंकि यदि वह जड़-तत्त्व होता, तो उससे सभी प्रवृत्तियों को न तो सत्ता ही मिलती, न उनका प्रकाशन ही होता और न वह सभी प्रवृत्तियों को अपने में विलीन ही कर पाता। इस दृष्टि से विश्राम चिन्मय तत्त्व है। अत: विश्राम उन्हीं को प्राप्त होता है, जो अपने को सभी वस्तु, अवस्था आदि से असङ्ग कर लेते हैं।

यह सभी को मान्य होगा कि शक्तिहीनता आ जाने पर विश्राम की ही अपेक्षा होती है और विश्राम मिलने पर स्वत: शक्तिहीनता मिट जाती है। इस दृष्टि से शक्ति-संचय का केन्द्र एकमात्र विश्राम है। गहरी नींद के द्वारा विश्राम पाकर शारीरिक श्रम दूर हो जाता है और कार्य करने की क्षमता आ जाती है। निर्विकल्पता के द्वारा विश्राम पाकर जब मानसिक श्रम मिट जाता है, तब सूक्ष्म शक्तियों का विकास होता है। समता के द्वारा विश्राम पाकर बौद्धिक शान्ति मिलती है, जिससे विचाररूपी सूर्य का उदय होता है, जो अमरत्व से अभिन्न करने में समर्थ है। इस दृष्टि से शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक विश्राम की भी आवश्यकता है। शारीरिक विश्राम आवश्यक श्रम से, मानसिक विश्राम अनावश्यक संकल्पों के त्याग से और बौद्धिक विश्राम संकल्पपूर्ति के सुख का त्याग करने से प्राप्त होता है।

प्राकृतिक नियमानुसार भौतिक विकास भी विश्राम में ही निहित है। प्रत्येक बीज पृथ्वी में विश्राम पाकर ही विकसित होता है। मृत्यु ही नवीन जीवन देती है, जो प्राकृतिक विश्राम है। जीवन का सदुपयोग जीवन-काल में ही विश्राम प्रदान करता है, जो नित्य-जीवन का हेतु है।

अब यदि कोई यह कहे कि विश्राम जैसी महत्त्वपूर्ण स्वाभाविक वस्तु हमें क्यों नहीं प्राप्त होती? तो कहना होगा कि प्राप्त सामर्थ्य का दुरुपयोग तथा उसका अभिमान हमें विश्राम नहीं करने देता। विश्राम उसी को प्राप्त होता है, जो अपने में अपना कुछ नहीं पाता एवं जो न तो प्राप्त का दुरुपयोग करता है और न अप्राप्त वस्तुओं की इच्छा ही। प्राप्त सामर्थ्य तथा योग्यता का सदुपयोग आवश्यक सामर्थ्य और योग्यता प्रदान करने में समर्थ है। इस दृष्टि से असमर्थता तथा अयोग्यता का जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। उसे तो हम प्राप्त के दुरुपयोग द्वारा ही प्राप्त करते हैं, जो अपनी ही भूल है।

विश्राम साधन भी है और साध्य भी; कारण कि विश्राम से ही समस्त शक्तियों का विकास होता है और उनके सदुपयोग के अन्त में मिलता भी विश्राम ही है; क्योंकि विश्राम में जीवन है, चिन्मयता है, नित-नव रस है।

अब विचार यह करना है कि क्या हम विश्राम चाहते हैं? यदि चाहते हैं, तो क्यों नहीं प्राप्त कर पाते? यद्यपि विश्राम की स्वाभाविक आवश्यकता तो है, परन्तु उसे सुख-लोलुपता ने आच्छादित कर रखा है। सुख की दासता हमें विश्राम की श्वास नहीं लेने देती। सुख-लोलुपता का अन्त करने के लिए हमें दुःख और दुखियों को अपनाना होगा। वह तभी सम्भव होगा, जब हम सभी को अपना मानें; क्योंकि सभी को अपना मान लेने पर सुख-भोग के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता अर्थात् हृदय दुःख से भर जाता है और दुखियों से अभिन्नता हो जाती है, जो सुख-लोलुपता का अन्त करने में समर्थ है। सभी को अपना मानने की सामर्थ्य तथा योग्यता तभी आती है, जब देह आदि वस्तुओं को अपनी न मानें। देहादि को अपना न मानने की सामर्थ्य विवेक से ही आती है।

देहादि से अतीत का जीवन ही वास्तविक जीवन है। उससे अभिन्न होने के लिए ही वर्तमान जीवन है। अतः देहादि के सदुपयोग द्वारा समाज

के अधिकारों की रक्षा और अपने अधिकारों का त्याग करते हुए यथेष्ट विश्राम प्राप्त करने का प्रयत्न करें, जिससे अनन्त-नित्य-चिन्मय जीवन से अभिन्न होकर कृतकृत्य हो जाएँ, जो सभी का सब कुछ है।

(32)

विश्राम की विधि

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि विश्राम जीवन का आवश्यक अंग है; क्योंकि विश्राम के बिना न तो जिज्ञासा की पूर्ति हो सकती है और न दिव्य-चिन्मय प्रीति की जागृति ही। परन्तु विश्राम की प्राप्ति तभी हो सकती है, जब हम अपने को देह, वस्तु, अवस्था आदि सभी से विमुख कर सकें। यह तभी सम्भव होगा, जब प्राप्त वस्तु आदि से ममता न हो, अपितु उनका सदुपयोग हो और अप्राप्त वस्तु आदि का चिन्तन न हो। प्राप्त वस्तु आदि का सदुपयोग करने पर उनसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। अप्राप्त वस्तु आदि की चाह मिटने पर व्यर्थ-चिन्तन मिट जाता है।

प्राप्त वस्तु आदि से सम्बन्ध-विच्छेद और अप्राप्त वस्तु आदि के चिन्तन से रहित होते ही हम स्वतः वस्तु आदि से विमुख हो जाते हैं और हमें विश्राम मिल जाता है, जिसके मिलते ही जिज्ञासा की पूर्ति और दिव्य-चिन्मय प्रीति जाग्रत हो जाती है। जिज्ञासा की पूर्ति में नित्य-जीवन निहित है और प्रीति की जागृति में अनन्त से अभिन्नता स्वतः सिद्ध है।

देह आदि वस्तुओं की ममता का त्याग तथा उनके सदुपयोग की सामर्थ्य प्राप्त करने के लिए हमें देह आदि के स्वरूप को जानना होगा। अब विचार यह करना है कि जिस देह को हम अपना मानते हैं, क्या वह वास्तव में हमारी है अथवा संसार-रूपी सागर की एक लहर है? क्या शरीर और संसार का विभाजन हो सकता है? कदापि नहीं। अतः कहना

होगा कि शरीर उसी का हो सकता है, जिसका समस्त संसार है, हमारा नहीं। परन्तु उसके सदुपयोग का दायित्व हम पर अवश्य है; क्योंकि शरीर आदि वस्तुओं के साथ हमें विवेक भी मिला है। अत: प्राप्त विवेक के प्रकाश में हमें शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी वस्तुओं का सदुपयोग अवश्य करना है अथवा यों कहो कि इन सब वस्तुओं को संसाररूपी वाटिका की खाद बना देना है। ऐसा करने से ही शरीर और विश्व की एकता सिद्ध होगी। फिर अपने और पराये का भेद गल जाएगा, जिसके गलते ही समस्त विश्व उस अनन्त की लालसा बन जाएगा।

यह नियम है कि लालसा में सत्ता उसी की होती है, जिसकी वह लालसा है। इस दृष्टि से समस्त विश्व केवल उस अनन्त की लालसा-मात्र है और कुछ नहीं। इसी कारण समस्त विश्व सतत उसी की ओर दौड़ रहा है अथवा यों कहो कि प्रत्येक वस्तु अपने को सजा-धजाकर उसके भेंट कर रही है; क्योंकि प्रीति का यह स्वभाव है कि वह अपने को सुन्दर बना कर प्रियतम के समर्पित होने में ही अपने को कृतकृत्य मानती है। अत: शरीर आदि वस्तुओं का सदुपयोग है—विश्व की खाद होकर उससे अभेद होने में और विश्व का सदुपयोग है—उस अनन्त से अभिन्न होने में, क्योंकि वास्तव में समस्त विश्व उसकी अभिव्यक्ति है और कुछ नहीं। देह आदि वस्तुओं के स्वरूप को जान लेने पर उनकी ममता का त्याग तथा उनका सदुपयोग होना तो स्वाभाविक ही है।

अब विचार यह करना है कि विश्राम-प्राप्ति में क्या-क्या विघ्न हैं ? तो कहना होगा कि जो वर्तमान का कार्य है, उसे भविष्य पर छोड़ना और जो वर्तमान का कार्य नहीं है, उसका चिन्तन करना अथवा यों कहो कि जो कर सकते हैं, उसको न करना और जो करने योग्य नहीं है, उसको करना अथवा जिसका होना सम्भव नहीं है, उसके करने की सोचना आदि विश्राम में विघ्न हैं।

अब विचार करें कि वर्तमान में करने योग्य क्या है? तो कहना होगा कि शरीर और विश्व की एकता, प्राप्त वस्तुओं की ममता का त्याग एवं उनका सदुपयोग वर्तमान जीवन की वस्तु है। ममता-रहित होते ही सभी बन्धन स्वत: टूट जाते हैं, प्राप्त वस्तुओं का सदुपयोग करते ही सुन्दर समाज का निर्माण होने लगता है तथा शरीर और विश्व की एकता सिद्ध होते ही निरभिमानता आ जाती है, जो सब प्रकार के संघर्ष मिटाने में समर्थ है। अत: जो वर्तमान का कार्य है, वही करने योग्य है; क्योंकि वर्तमान के सुधार में ही सफलता निहित है।

यदि कोई कहे कि न करने योग्य क्या है? तो कहना होगा कि जो करने योग्य है, उसके विपरीत जो कुछ है, वह न करने योग्य है। किसका होना सम्भव नहीं है? जो समय निकल गया, उसका हाथ आना सम्भव नहीं है, शरीर आदि वस्तुएँ वर्तमान में जैसी हैं, उनका वैसा ही रहना सम्भव नहीं है, व्यक्तित्व का मोह सुरक्षित रहना सम्भव नहीं है और अनन्त से विमुख रहकर शान्ति पाना सम्भव नहीं है। अत: जिसका होना सम्भव ही नहीं है, उसके लिए सोचना या चिन्ता करना जीवन का अनादर तथा सामर्थ्य का दुरुपयोग करना है और कुछ नहीं। जो करने योग्य नहीं है, उसके न करने से, जो करने योग्य है, उसकी योग्यता तथा सामर्थ्य स्वत: आ जाती है। जो नहीं करना चाहिए, उसका त्याग करना चाहिए। इस दृष्टि से जो करने योग्य है, उसके करने में कोई असमर्थ तथा अयोग्य नहीं है।

अब विचार यह करना है कि जो करने योग्य है, उसके करने में जब हम असमर्थ और अयोग्य नहीं हैं, तब हम उसे क्यों नहीं कर पाते? तो कहना होगा कि करने की सामर्थ्य तथा योग्यता को उसमें लगा देते हैं, जो करने योग्य नहीं है। जैसे, सामर्थ्य तथा योग्यता का बहुत बड़ा भाग हम संसार से सुख लेने की आशा में लगा देते हैं। यद्यपि हमें तो संसार की सेवा करना है, उससे लेना कुछ नहीं; क्योंकि बेचारा संसार स्वयं ही

किसी की खोज में है। वह हमें दे ही क्या सकता है? तो भी हम उसके पीछे पड़े हैं, यही प्रमाद है।

अत: हमें संसार की धरोहर जो शरीर आदि वस्तुओं के रूप में प्राप्त है, उसे संसार की ही सेवा में लगा देना है और आगे उससे क्षमा माँग लेना है। जब हम संसार की समस्त वस्तुएँ उसी की सेवा में लगा देते हैं, तब हम स्वभाव से ही उसके बन्धन से मुक्त हो जाते हैं और समस्त संसार हम से प्रसन्न हो जाता है; क्योंकि जो उस पर अधिकार नहीं जमाता, संसार उससे सदैव प्रसन्न रहता है। संसार उसी को भय देता है, जो उसकी वस्तुओं को अपनी मान लेता है। अत: हमें संसार से कुछ लेना नहीं है, अपितु उससे मिली वस्तुओं को उसी को दे देना है और स्वयं विश्राम पा लेना है, जो हमारा साधन है।

यह नियम है कि साधन-तत्त्व साधक का जीवन है और साध्य का स्वभाव है। अत: विश्राम उस अनन्त का स्वभाव है और हमारा जीवन है। विश्राम आते ही दीनता तथा अभिमान की अग्नि सदा के लिए शान्त हो जाती है, शरीर विश्व के काम आ जाता है और हृदय में प्रीति की गङ्गा लहराने लगती है, जो निरभिमानतापूर्वक उस अनन्त से अभिन्न कर देती है; क्योंकि प्रीति दिव्य और चिन्मय-तत्त्व है। प्रीति से अभिन्न होने में ही हमारे जीवन की सार्थकता है; क्योंकि हमको 'प्रीति' से और शरीर आदि को 'विश्व' से अभिन्न होना है तथा यही साधन की सिद्धि है, जो चिर-विश्राम में निहित है।

(33)

साधन-निर्माण की भूमि

वर्तमान दशा का अध्ययन साधन-निर्माण की भूमि है। जिस प्रकार बिना भूमि के कोई पौधा उग नहीं सकता, उसी प्रकार वर्तमान दशा का अध्ययन किए बिना साधन-निर्माण नहीं हो सकता।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि वर्तमान दशा का अध्ययन कैसे किया जाए? तो कहना होगा कि निज-विवेक के प्रकाश में अपनी उस रुचि को देखा जाए, जो बीजरूप से विद्यमान है और उस योग्यता को देखा जाए, जिससे उसकी पूर्ति और निवृत्ति हो सकती है; क्योंकि विद्यमान रुचि की पूर्ति तथा निवृत्ति के बिना हम अपने वास्तविक जीवन को प्राप्त नहीं कर सकते। भुक्त और अभुक्त रुचियों के जाल में आबद्ध प्राणी परिवर्तनशील क्षणभंगुर जीवन से मुक्त नहीं हो सकता।

अब विचार यह करना है कि साधन-निर्माण की अपेक्षा ही क्यों है? तो कहना होगा कि वर्तमान दशा में दो बातें दिखाई देती हैं—एक तो परिवर्तनशील जीवन का राग और दूसरी नित्य जीवन की जिज्ञासा। अत: राग की निवृत्ति तथा जिज्ञासा की पूर्ति के लिए ही साधन की अपेक्षा है। पर साधन का निर्माण तभी सम्भव होगा, जब अपनी वर्तमान वस्तुस्थिति को भली-भाँति जान लें। उसके लिए हमें उत्पन्न हुए सभी संकल्पों को देखना होगा और उनमें से जो संकल्प राग-निवृत्ति तथा जिज्ञासापूर्ति में हेतु हैं, उन्हें पूरा करना होगा। राग-निवृत्ति में वे ही संकल्प सहायक हो सकते हैं, जिनका सम्बन्ध वर्तमान से हो और जिनकी पूर्ति में किसी का अहित न हो।

यह नियम है कि जिन संकल्पों की पूर्ति में किसी का अहित नहीं है, उनकी पूर्ति स्वत: हो जाती है, क्योंकि वे शुद्ध संकल्प होते हैं। शुद्ध संकल्पों की पूर्ति में ही अशुद्ध संकल्पों का त्याग अपने आप हो जाता है। अशुद्ध संकल्पों का त्याग होते ही निर्वैरता तथा निर्भयता स्वत: आ जाती है। निर्वैरता द्वेष को खा लेती है और निर्भयता अपने पर विश्वास उत्पन्न करती है। द्वेष के मिटते ही प्रीति स्वत: जाग्रत होती है और अपने पर विश्वास होते ही अपने साधन के प्रति अविचल श्रद्धा हो जाती है।

समस्त साधन तीन भागों में विभाजित हो जाते हैं—करने में, जानने में और मानने में। अर्थात् हम क्या कर सकते हैं, हम क्या जान सकते

हैं और हमें क्या मानना अनिवार्य है? अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि हम क्या कर सकते हैं? तो कहना होगा कि प्राप्त बल का सदुपयोग तथा प्राप्त विवेक का आदर। बल के सदुपयोग से सभी निर्बलताएँ मिट जाती हैं और विवेक के आदर से नि:सन्देहता आ जाती है। निर्बलताओं का अन्त होते ही जो करना चाहिए, वह स्वत: होने लगता है और नि:सन्देहता आते ही ज्ञान और जीवन में भेद नहीं रहता अर्थात् जीवन ज्ञान का प्रतीक हो जाता है। जब वह होने लगता है, जो करना चाहिए, तब उसकी उत्पत्ति ही नहीं होती, जो नहीं करना चाहिए; अर्थात् अकर्त्तव्य सदा के लिए मिट जाता है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि हम क्या जान सकते हैं? तो कहना होगा कि इन्द्रियों के द्वारा विषयों को और बुद्धि से शरीर तथा उससे सम्बन्धित वस्तु, अवस्था आदि के सतत परिवर्तन को जान सकते हैं। इन्द्रियों से जो वस्तु सत्य तथा सुन्दर प्रतीत होती है, वही बुद्धि से मलिन तथा असत्य दीखती है। जब तक अपने पर इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव रहता है, तब तक राग की उत्पत्ति होती रहती है। ज्यों-ज्यों इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव मिटता जाता है और बुद्धि-ज्ञान का प्रभाव होता जाता है, त्यों-त्यों राग अपने-आप गलता जाता है।

राग, संयोग की दासता में आबद्ध करता है और उसके गलते ही नित्य-योग स्वत: प्राप्त हो जाता है अथवा यों कहो कि राग भोग में आबद्ध करता है और उसके मिटते ही नित्य-योग स्वत: प्राप्त हो जाता है। इन्द्रिय-ज्ञान का प्रभाव मिटाने के लिए बुद्धि-ज्ञान का आदर अनिवार्य है। बुद्धि-ज्ञान का अनादर और इन्द्रिय-ज्ञान का आदर ही साधन-निर्माण नहीं होने देता।

अत: हम यह जान सकते हैं कि साधन-निर्माण करने के लिए हमें बुद्धि-जनित ज्ञान का आदर करना होगा। जिस प्रकार इन्द्रिय-ज्ञान हमें संयोग, आसक्ति तथा मृत्यु की ओर ले जाता है, उसी प्रकार बुद्धि-जन्य

ज्ञान हमें नित्य-योग, प्रीति तथा अमरत्व की ओर ले जाता है अथवा यों कहो कि इन्द्रिय-ज्ञान हमें राग-द्वेष में आबद्ध करता है एवं बुद्धि-ज्ञान हमें त्याग और प्रेम प्रदान करता है। अत: बुद्धि-ज्ञान से ही हम अपना साधन जान सकते हैं और उसके द्वारा साध्य की ओर गतिशील हो सकते हैं।

अब यदि कोई यह कहे कि मानने का साधन-निर्माण में क्या स्थान है? तो कहना होगा कि हम अपने को साधक मानकर ही साधन का निर्माण कर सकते हैं और साध्य को प्राप्त कर सकते हैं। साधक किसे कहते हैं? साधक उसे कहते हैं, जिसका कोई साध्य हो और जिसकी प्राप्ति के लिए उसमें कोई साधना निहित हो।

अब विचार यह करना है कि वर्तमान वस्तुस्थिति क्या है? तो कहना होगा कि इन्द्रिय-जन्य ज्ञान के प्रभाव के कारण किसी न किसी प्रकार का राग है और बुद्धि-जन्य ज्ञान के प्रभाव के कारण नित्य-योग, अमरत्व तथा प्रेम की आवश्यकता है; क्योंकि नित्य-योग के बिना संयोग की दासता नहीं मिट सकती, अमरत्व के बिना मृत्यु का भय नहीं मिट सकता और प्रेम के बिना संयोगजनित रस की आसक्ति नहीं मिट सकती।

इस दृष्टि से हमारा साधन वही हो सकता है, जिससे विद्यमान राग की निवृत्ति हो और नवीन राग की उत्पत्ति न हो एवं नित्य-योग, अमरत्व और प्रेम की प्राप्ति हो। साधक का जीवन समाज के अधिकारों का समूह है और कुछ नहीं। अत: विद्यमान राग की निवृत्ति तथा नवीन राग की उत्पत्ति के अन्त के लिए हमें सभी के अधिकारों की रक्षा तथा अपने अधिकार का त्याग करना होगा। ऐसा करने से ही प्राप्त बल का सदुपयोग हो सकता है। प्राप्त बल का सदुपयोग करते ही अधिकार-लालसा रूपी निर्बलता सदा के लिए मिट जाती है, जो नवीन राग को उत्पन्न ही नहीं होने देती है। राग-रहित होते ही द्वेष स्वत: मिट जाता है। त्याग से नित्य-योग एवं अमरत्व, प्रेम से अगाध अनन्त रस स्वत: प्राप्त होता है, जो वास्तव में साध्य है।

(34)

अहं और मम के नाश में जीवन की सार्थकता

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि वास्तव में अपने में अपनी जैसी कोई वस्तु है ही नहीं अर्थात् अपने में अपना कुछ नहीं है; परन्तु जब हम प्रमादवश अपने में अपना कुछ मान लेते हैं, तब सीमित हो जाते हैं। सीमित होते ही अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न हो जाते हैं। भेद के उत्पन्न होते ही अशान्ति तथा संघर्ष का जन्म होता है और हम दीनता तथा अभिमान की अग्नि में जलने लगते हैं।

यदि हम अपने में अपना कुछ न रखें, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक सीमित से असीम की ओर, भेद से अभेद की ओर, अशान्ति से चिर-शान्ति की ओर, संघर्ष से स्नेह की एकता की ओर एवं दीनता और अभिमान से महानता तथा निरभिमानता की ओर गतिशील हो सकते हैं, जो वास्तविक जीवन-प्राप्ति में हेतु है; क्योंकि सीमित होने पर मृत्यु और असीम की ओर गतिशील होने पर अमरत्व की उपलब्धि होती है। भेद से भय और अभेद की ओर गतिशील होने पर निर्भयता प्राप्त होती है। अशान्ति और संघर्ष से अनेक प्रकार के क्षोभ और शक्तिहीनता तथा शान्ति एवं स्नेह की एकता से सामर्थ्य और क्षमाशीलता प्राप्त होती है। दीनता और अभिमान से संकीर्णता और परिच्छिन्नता; एवं निरभिमानता और महानता से विभुता और अभिन्नता प्राप्त होती है।

अब विचार यह करना है कि क्या हमने शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को अपने में आबद्ध कर लिया है अथवा अपने को इनमें आबद्ध कर दिया है? यदि हमने शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को अपने में पकड़ लिया है, तो इनका ह्रास अवश्य होगा और यदि अपने को शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि में आबद्ध कर दिया है, तो अपना विनाश अवश्य होगा। क्या अपने को देह मान लेने पर कोई अमर हो

सकता है ? कदापि नहीं। जिनसे हमारी ममता होती है, क्या उनका विकास हो सकता है ? कदापि नहीं; कारण, कि जिसे हम अपना मान लेते हैं, उसमें हमारी आसक्ति हो जाती है।

यह सभी को मान्य होगा कि आसक्ति का दोष रहते हुए शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि का विकास कभी सम्भव नहीं है; क्योंकि आसक्ति शरीर को आलसी, इन्द्रियों को विलासी, मन को असंयमी और बुद्धि को अविवेक युक्त बना देती है। जब तक हम अपने में अपना कुछ भी मानेंगे, तब तक आसक्ति का अभाव नहीं हो सकता और आसक्ति के रहते हुए शरीर, इन्द्रिय आदि का विकास नहीं हो सकता।

अत: यह निर्विवाद सिद्ध है कि जिनका हमें विकास अभीष्ट हो, उनको अपना न मानें। यदि अपना जीवन अभीष्ट हो, तो अपने को किसी में आबद्ध न करें। जब हम उन सबको निकाल देते हैं, जिनको हमने अपने में रख लिया है, तब उन सबका विकास स्वत: होने लगता है; एवं जब हम अपने को उन सभी से हटा लेते हैं, जिनमें अपने को रख दिया है, तब हम अनन्त से अभिन्न होकर अमर हो जाते हैं।

जिसके साथ अहंभाव लग जाता है, वह दूषित हो जाता है, क्योंकि उसमें संकीर्णता आ जाती है। संकीर्णता स्नेह को विभु नहीं होने देती। सीमित स्नेह से ही अनेक प्रकार के द्वन्द्व उत्पन्न होते हैं, जो विनाश के मूल हैं। इस दृष्टि से अहंभाव का अन्त करना अत्यन्त अनिवार्य है। अहंभाव का नाश होते ही मम का नाश स्वत: हो जाता है। अहं और मम के मिटते ही अनन्त, नित्य, चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है। फिर सभी का विकास स्वत: होने लगता है; क्योंकि अनन्त की कृपा-शक्ति सभी को दिव्य तथा चिन्मय बनाने में समर्थ है।

जब हम प्रमादवश किसी वस्तु को अपना मानते हैं, तब हम अपने को उसके भोग में ही आबद्ध कर लेते हैं; न तो उस वस्तु को सुरक्षित

रख सकते हैं और न उसका सदुपयोग ही कर पाते हैं। कारण, कि लोभ के रहते हुए वस्तुओं का सदुपयोग हो नहीं सकता। इतना ही नहीं, लोभ में आबद्ध प्राणी को आवश्यक वस्तुएँ भी प्राप्त नहीं हो पातीं; क्योंकि प्राकृतिक विज्ञान की दृष्टि से आवश्यक वस्तुएँ उन्हीं को प्राप्त होती हैं, जो वास्तव में लोभरहित हैं। अत: किसी भी वस्तु को अपनी मानना अपने को दीन बनाना और समाज में दरिद्रता को बढ़ाना ही है, जो संघर्ष का मूल है।

यदि हमने शरीर को अपना न माना होता, तो कभी काम की उत्पत्ति न होती; मन को अपना न माना होता, तो कभी अशुद्ध संकल्प उत्पन्न न होते और यदि बुद्धि को अपना न माना होता, तो कभी विवेक का अनादर न होता। यह नियम है कि जिससे हम अपने को मिला देते हैं, उसमें सत्यता और सुन्दरता भासने लगती है। अत: जब हम शरीर से अपने को मिला लेते हैं, तब शरीर क्षणभंगुर तथा मलिन होते हुए भी सत्य और सुन्दर प्रतीत होने लगता है, जो काम की उत्पत्ति में हेतु है। जब हम मन से अपने को मिला लेते हैं, तब स्वार्थभाव उत्पन्न होता है, जो अशुद्ध संकल्पों को जन्म देता है। जब हम बुद्धि से अपने को मिला लेते हैं, तब हमारा ज्ञान सीमित हो जाता है, जो विचार का उदय नहीं होने देता। इस दृष्टि से अहं के मिलने से ही सभी विकार तथा दोष उत्पन्न होते हैं। अत: अहंरूपी अणु का अन्त करना अत्यन्त अनिवार्य है।

यह नियम है कि जो वस्तु स्थूल होती है, वह सीमित और विनाशी होती है और जो सूक्ष्म होती है, वह विभु और अविनाशी होती है। इस दृष्टि से हमें उस सूक्ष्मता की ओर जाना है, जिसका विभाग न हो सके अर्थात् जो टूट न सके अथवा यों कहो कि जिसमें विभाजन न हो सके। वह तभी सम्भव होगा, जब हम अपने अहंभावरूपी अणु को तोड़ दें। उसके लिए हमें प्रथम सब प्रकार की ममता को तोड़ना होगा। ममता का अन्त होते ही सब प्रकार की चाह का अन्त होगा और चाहरहित होते ही

अहंरूपी अणु स्वत: टूट जाएगा, उसके लिए कोई अन्य प्रयत्न अपेक्षित नहीं होगा; क्योंकि चाह-रहित होते ही 'अहं' तथा 'मम' का नाश हो जाता है। अहंरूपी अणु के टूटते ही भिन्नता मिट जाती है, जिसके मिटते ही अनन्त-नित्य-चिन्मय जीवन से एकता हो जाती है और 'उसका' प्रेम प्राप्त हो जाता है। अत: अपने में अपना कुछ न रखने से ही जीवन की सार्थकता सिद्ध हो सकती है।

(35)

साधन में शिथिलता क्यों आती है?

वस्तुस्थिति का अध्ययन करने पर यह प्रश्न स्वभावत: उत्पन्न होता है कि साधन में शिथिलता तथा असफलता का हेतु क्या है, जबकि वर्तमान जीवन साधनयुक्त जीवन है? तो कहना होगा कि जब स्वार्थभाव सर्वहितकारी प्रवृत्ति में और सर्वहितकारी प्रवृत्ति सहज निवृत्ति में विलीन नहीं होती, तभी साधन में शिथिलता आती है और असफलता का दर्शन होता है; अर्थात् वर्तमान में सिद्धि नहीं होती।

जब साधन अपनी योग्यता के अनुरूप नहीं होता और साध्य वर्तमान से सम्बन्धित नहीं रहता, तब नित-नव उत्कण्ठा जाग्रत नहीं होती। उत्कण्ठा के बिना साधन में शिथिलता का आ जाना स्वाभाविक है। साधन में शिथिलता आ जाने पर, उत्साहहीनता और निराशा आदि दोष उत्पन्न होने लगते हैं। यद्यपि किया हुआ साधन कभी नष्ट नहीं होता, क्योंकि साधन-तत्त्व नित्य है; परन्तु जिसकी उपलब्धि वर्तमान में हो सकती है, उसके लिए भविष्य की आशा होने लगती है, जिससे साधन का अभिमान तो रहता है, परन्तु साधन साधक का समस्त जीवन नहीं हो पाता; अर्थात् साधन जीवन का एक अङ्ग-मात्र रह जाता है, जो कालान्तर में फल देता है।

अब विचार यह करना है कि साधन का आरम्भ कब होता है? विचार करने पर पता लगेगा कि जब स्वार्थभाव अर्थात् दूसरों से सुख लेने

की आशा मिटने लगती है और सर्वहितकारी प्रवृत्ति होने लगती है, तब साधन का आरम्भ होता है; परन्तु जब साधक सर्वहितकारी प्रवृत्ति को ही जीवन मान लेता है, तब गुणों का अभिमान उत्पन्न होता है, जो सहज निवृत्ति को प्राप्त नहीं होने देता। यही साधन में विघ्न है।

सहज निवृत्ति के बिना साधन वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति पर ही आश्रित रहता है, जो वास्तव में परतन्त्रता है। ऐसी साधना ऊपर से तो साधन का अभिमान उत्पन्न करती है और भीतर से असाधन को जन्म देती है अथवा यों कहो कि साधन और असाधन में द्वन्द्व होने लगता है। बस, यही असफलता का हेतु है।

जब तक साधक अपनी प्राप्त शक्ति को लगाकर साध्य के लिए पूर्ण उत्कण्ठा जाग्रत नहीं कर लेता, तब तक साधन में सजीवता नहीं आती, जिसके बिना यन्त्रवत् साधन होता रहता है। यद्यपि साधन और साध्य दोनों ही वर्तमान जीवन की वस्तु हैं, परन्तु साधन की शिथिलता हमें भविष्य की आशा में आबद्ध करती है। पूरी शक्ति लगाना और उत्कण्ठा की जागृति तभी सम्भव है, जब हम साधन और साध्य को वर्तमान की वस्तु मान लें। साधन उसके लिए नहीं करना है, जो उत्पत्ति-विनाशयुक्त है और न उसके लिए करना है, जिससे देश-काल की दूरी है। तो फिर साध्य को वर्तमान की वस्तु मानने में आपत्ति ही क्या है?

जिस साध्य की उपलब्धि संकल्प-पूर्ति पर निर्भर है, उसके लिए प्रवृत्ति अपेक्षित है और जिसके लिए प्रवृत्ति अपेक्षित है, उसके लिए भविष्य की आशा अनिवार्य है, परन्तु जो साध्य संकल्प-निवृत्ति तथा उत्कण्ठा एवं लालसा-जागृति से प्राप्त होता है, उसके लिए भविष्य की आशा तथा किसी अप्राप्त वस्तु, परिस्थिति आदि की अपेक्षा नहीं है। जिसके लिए किसी वस्तु, अवस्था आदि की अपेक्षा नहीं है, उसके लिए तो उत्तरोत्तर उत्कण्ठा बढ़ते रहना ही स्वाभाविक है अथवा यों कहो कि उसके लिए शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की समस्त शक्तियाँ अपने-अपने स्वभाव का त्याग करके

साध्य की लालसा बन जाती हैं अर्थात् अनेक इच्छाएँ एक लालसा में, अनेक सम्बन्ध एक सम्बन्ध में और अनेक विश्वास एक विश्वास में विलीन हो जाते हैं।

समस्त जीवन एक विश्वास, एक सम्बन्ध और एक लालसा के रूप में ही शेष रह जाता है अर्थात् साध्य की लालसा के अतिरिक्त और कोई अपना अस्तित्व की शेष नहीं रहता। फिर वही लालसा जिज्ञासा होकर तत्त्व-ज्ञान से और प्रेम होकर प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाती है। अथवा यों कहो कि जो लालसा अनेक कामनाओं को गलाकर उदय होती है, वह दिव्य तथा चिन्मय हो जाती है, क्योंकि चिन्मय प्रेम ही प्रेमास्पद से अभिन्न हो सकता है। इस दृष्टि से प्रेमी, प्रेम और प्रेमास्पद में एकता हो जाती है।

सत् की खोज असत् के त्याग में है, असत् के द्वारा नहीं। असत् का त्याग वर्तमान में हो सकता है। अत: सत् की प्राप्ति वर्तमान जीवन की वस्तु है, क्योंकि जब अपने द्वारा अपने प्रियतम को अपने ही में पाना है, तब उसके लिए श्रम तथा काल की अपेक्षा ही क्या है? जिस साधन के लिए श्रम तथा काल अपेक्षित नहीं है, वही निवृत्ति का साधन है। वह निवृत्ति का साधन उन्हीं को प्राप्त होता है, जो अपने को समर्पण कर देते हैं। सर्वहितकारी वृत्तियों का स्फुरण ही 'प्रवृत्ति-मार्ग' है और वृत्तियों का स्फुरण न होना ही 'निवृत्ति-मार्ग' है। सीमित बल तथा सामर्थ्य के द्वारा असीम तथा अनन्त की प्राप्ति सम्भव नहीं है। इस कारण समर्पण ही अन्तिम साधन है। पर वह उन्हीं साधकों को प्राप्त होता है, जो निर्बल हैं तथा जो गुणों के अभिमान से रहित हैं।

गुणों के अभिमान से रहित होते ही अनन्त की कृपाशक्ति स्वत: सब कुछ करने लगती है। फिर न साधन में शिथिलता आती है और न असफलता के लिए ही कोई स्थान रहता है; क्योंकि साधन में शिथिलता और असफलता तभी तक जीवित है, जब तक साधक अपने सीमित बल, योग्यता एवं गुणों के द्वारा सफलता की आशा करता है।

(36)

भिन्नता के अन्त में जीवन

जीवन का अध्ययन करने पर विदित होता है कि आसक्ति, संघर्ष और अशान्ति का एकमात्र कारण भेद तथा भिन्नता है, क्योंकि भेद तथा भिन्नता को स्वीकार करने पर ही अनेक दोष उत्पन्न होते हैं, जो आसक्ति, संघर्ष और अशान्ति के हेतु हैं। अब यदि कोई यह कहे कि मान्यता की भिन्नता, गुणों की भिन्नता और कर्म की भिन्नता तो स्पष्ट दिखाई देती है, फिर उसको क्यों न स्वीकार किया जाए? तो कहना होगा कि सभी मान्यताओं के मूल में जो मान्यताओं का प्रकाशक है अर्थात् जिसकी सत्ता से मान्यताएँ सत्ता पाती हैं, क्या उसमें भी भेद और भिन्नता है? कदापि नहीं; क्योंकि मान्यताएँ भले ही अनेक हों, परन्तु उनका प्रकाशक एक ही है।

हाँ, यह अवश्य है कि मान्यताओं के भेद से कर्म का भेद हो सकता है, स्वरूप का नहीं। अत: मान्यताओं का भेद होने पर भी यदि स्वरूप का भेद स्वीकार न किया जाए, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक जीवन में अभिन्नता आ जाएगी, जो निर्दोष बनाने में समर्थ है।

जिस प्रकार मान्यताओं का भेद होने पर भी स्वरूप की एकता है, उसी प्रकार गुणों की भिन्नता होने पर भी जातीय एकता है। जैसे, लहर और समुद्र में, शरीर और विश्व में, अङ्ग और अङ्गों में गुणों की भिन्नता होने पर भी जातीय एकता है। यद्यपि शरीर के प्रत्येक अवयव की आकृति, गुण और कर्म में भेद है, परन्तु जातीय एकता होने से, आकृति, गुण और कर्म का भेद होने पर भी समस्त शरीर के प्रति प्रियता एक-सी है।

यह सभी को मान्य होगा कि सर्वांश में दो व्यक्ति भी समान योग्यता के नहीं होते। अत: योग्यता-भेद होने के कारण कर्म का भेद अनिवार्य है। प्रत्येक व्यक्ति स्वरूप से विश्व के अधिकार का समूह है और कुछ नहीं; क्योंकि ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं, जो विश्व से विभक्त की जा सके। इस दृष्टि से समस्त विश्व स्वरूप से एक है अथवा यों कहो कि समस्त विश्व किसी एक की ही एक अवस्थामात्र है।

यह नियम है कि अवस्था की स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती, अपितु अवस्था में सत्ता उसी की होती है, जिसकी वह अवस्था है। अत: कर्म का भेद होने पर भी सत्तारूप से हम सब एक हैं। इस दृष्टि से कर्म-भेद होने पर भी प्रीति-भेद के लिए कोई स्थान ही नहीं है। स्वरूप, जातीय तथा प्रीति की एकता ही वास्तविक एकता है, जो भेद तथा भिन्नता को खाकर योग, बोध तथा प्रेम प्रदान करने में समर्थ है।

अब यदि कोई यह कहे कि ऐसी स्थिति में तो मान्यताओं के भेद का जीवन में कोई स्थान ही नहीं रहा। तो कहना होगा कि मान्यता का भेद कर्त्तव्य-भेद में हेतु है, भिन्नता में नहीं। कर्त्तव्य में भेद होने पर भी कर्त्तव्यपरायणता से तो परस्पर में अभिन्नता तथा एकता ही सिद्ध होती है, भिन्नता नहीं; कारण, कि किसी का कर्त्तव्य ही किसी का अधिकार और किसी का अधिकार ही किसी का कर्त्तव्य बनता है। इस दृष्टि से मान्यता का भेद भी अभिन्नता का ही पोषक है।

गुणों का भेद भी किसी वस्तु की उत्पत्ति तथा उपयोग में हेतु है, जाति-भेद में नहीं; क्योंकि गुणों का भेद मिटने पर किसी रचना की सिद्धि नहीं हो सकती। जिस प्रकार गहरी नींद में अथवा समाधि में गुणों का भेद नहीं रहता, तो किसी वस्तु, व्यक्ति आदि की प्रतीति भी नहीं रहती। अत: वस्तु, व्यक्ति आदि की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश में ही गुणों का भेद अपेक्षित है, जातीय भिन्नता में नहीं।

कर्म के भेद के बिना न तो किसी कार्य की सिद्धि हो सकती है और न किसी समाज की रचना ही हो सकती है। कर्म का भेद एक-दूसरे की पूर्ति में हेतु है, प्रीति की भिन्नता में नहीं। अत: मान्यता का भेद, गुणों का भेद और कर्म का भेद, कर्त्तव्य के लिए, कार्य की सिद्धि के लिए और रचना के लिए है, भिन्नता के लिए नहीं।

स्वरूप, जाति तथा प्रीति की एकता की अनुभूति अमरत्व, सामर्थ्य और रस प्रदान करती है। स्वरूप का भेद स्वीकार करने पर अनन्त से अभिन्नता नहीं हो सकती और जातीय भेद स्वीकार करने पर नित-नव प्रीति का उदय नहीं हो सकता; क्योंकि स्वरूप का भेद स्वीकार करते ही सीमित अहंभाव प्रतीत होने लगेगा, जो भेद उत्पन्न करने में हेतु है। भेद के उत्पन्न होते ही वासनाएँ उदय होंगी, जो बन्धन तथा मृत्यु की ओर ले जाती हैं।

यह सभी को मान्य होगा कि एक काल में दो स्वतन्त्र सत्ताओं का अनुभव किसी को नहीं होता। हाँ, यह अवश्य है कि हमारी स्वीकृति में भले ही अनेक सत्ताएँ हों; परन्तु सभी स्वीकृतियों के मूल में तो एक ही स्वतन्त्र सत्ता है। इस दृष्टि से अनेक सत्ताएँ उस एक की ही अभिव्यक्तियाँ हैं और कुछ नहीं। अब यदि कोई यह कहे कि उस एक में अनेकता का भास ही क्यों होता है? तो कहना होगा कि जब हम स्वरूप की एकता से च्युत होकर अपने को किसी न किसी सीमित स्वीकृति में आबद्ध कर लेते हैं, तब इन्द्रियों के ज्ञान से तद्रूपता हो जाती है, जो एक में अनेकता का दर्शन कराने में हेतु है।

स्वीकृति को अपना अस्तित्व मान लेने पर 'स्व' से विमुख होकर 'पर' की ओर गतिशील होते हैं, फिर स्वरूप की एकता से च्युत हो जाते हैं। स्वरूप की एकता से च्युत होते ही अनेक प्रकार के अभाव भासने

लगते हैं, जो भिन्नता तथा संघर्ष आदि अनेक दोषों की उत्पत्ति में हेतु हैं। अत: स्वीकृति को त्यागकर स्वरूप की एकता प्राप्त करना अनिवार्य है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब स्वीकृति के आधार पर 'पर' की सेवा की जाए, किन्तु 'पर' से किसी प्रकार की आशा न की जाए। 'पर' की सेवा 'पर' के राग से रहित करने में समर्थ है, राग-रहित होते ही स्वीकृति की सत्ता मिट जाएगी और स्वरूप की एकता स्वत: सिद्ध हो जाएगी।

स्वीकृतियों के भेद के आधार पर अनेकों भेद क्यों न भासते हों, परन्तु उनके मूल में जो 'एक' है, हमें उसी से जातीय तथा स्वरूप की एकता स्वीकार करनी है अथवा यों कहो कि उससे अभिन्न होना है, जिससे अभिन्न होने पर अनन्त-नित्य-चिन्मय जीवन से एकता हो जाएगी।

भिन्नता का अन्त करने के लिए हमें विवेकपूर्वक अपने ही में अपने द्वारा अपने से अभिन्न होना अनिवार्य है, जिसके होते ही किसी और का अस्तित्व ही न रहेगा अर्थात् भिन्नता सदा के लिए मिट जाएगी।

भौतिक दृष्टि से समस्त विश्व एक जीवन है; तत्त्व दृष्टि से सृष्टि-जैसी कोई वस्तु ही नहीं है, केवल अपना ही स्वरूप है और प्रेम की दृष्टि से प्रेमास्पद से भिन्न कभी कुछ हुआ ही नहीं। ये तीनों दृष्टियाँ जब एक हो जाती हैं, तब वास्तविक जीवन की प्राप्ति होती है। अत: अनित्य-जीवन से नित्य-जीवन की ओर गतिशील होने के लिए भिन्नता का अन्त करना अत्यन्त आवश्यक है। भिन्नता का अन्त स्वरूप, जातीय तथा प्रीति की एकता में निहित है।

(37)

'मैं' क्या है?

जीवन का अध्ययन करने पर मुख्य प्रश्न यही उत्पन्न होता है कि 'मैं क्या हूँ'? यद्यपि हम सभी अपने को कुछ न कुछ मानते हैं, परन्तु जो हम अपने को मानते हैं, क्या वही हमारा अस्तित्व है? इस पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि प्रत्येक मान्यता का उद्‌गम स्थान 'यह' के साथ तद्‌रूप होने में है। 'यह' के अर्थ में शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी को लेना चाहिए।

अत: यदि हम 'यह' से अर्थात् शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से विमुख होकर अपना पता लगाएँ, तो अपने में किसी मान्यता का आरोप नहीं कर सकते। मान्यता को अस्वीकार करते ही सब प्रकार की चाह का अन्त हो जाता है। चाह-रहित होते ही समस्त दृश्य से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जिसके होते ही राग-द्वेष सदा के लिए मिट जाते हैं। राग का अन्त होते ही भोग 'योग' में, मृत्यु 'अमरत्व' में और द्वेष का अन्त होते ही मोह 'प्रेम' में विलीन हो जाता है। फिर कर्ता, कर्म और फल—ये तीनों मिटकर उसी से अभिन्न हो जाते हैं, जो सभी का सब कुछ है।

यही नहीं, शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से तद्‌रूप होने पर भी 'मैं' जैसी कोई स्वतन्त्र वस्तु सिद्ध नहीं होती; क्योंकि शरीर आदि से तद्‌रूप होने पर तो विश्व का दर्शन होता है; अथवा यों कहो कि शरीर उसी विश्वरूपी सागर की एक बूँद जान पड़ता है और कुछ नहीं। शरीर और विश्व का विभाजन सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से भी यही सिद्ध होता है कि शरीर से तद्‌रूपता होने पर भी 'मैं' जैसी कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, अपितु शरीर से तद्‌रूप होने पर 'मैं' का अर्थ समस्त विश्व हो जाता है। फिर व्यक्तिगत मान्यता के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता है।

क्या विश्व के साथ एकता होने वाली मान्यता हमारे जीवन में कुछ अर्थ रखती है ? यदि रखती है, तो कहना होगा कि जिस प्रकार हम समस्त विश्व के प्रति उपेक्षा भाव रखते हैं, उसी प्रकार हमें शरीर से भी उपेक्षा रखनी होगी अथवा जिस प्रकार शरीर के प्रति आत्मीयता रखते हैं, उसी प्रकार समस्त विश्व के प्रति आत्मीयता करनी होगी। शरीर के प्रति उपेक्षा होने पर भी मोह-जैसी कोई वस्तु शेष नहीं रहती और समस्त विश्व के प्रति आत्मीयता होने पर भी सीमित प्यार जैसी कोई वस्तु शेष नहीं रह सकती। मोह तथा सीमित प्यार का अन्त होते ही अविवेक तथा सब प्रकार के राग का अन्त स्वत: हो जाता है। अविवेक का अन्त होते ही नित्य-ज्ञान से अभिन्नता और राग का अन्त होते ही नित्य-योग की प्राप्ति स्वत: हो जाती है।

अब यदि कोई यह कहे कि ज्ञान तो इन्द्रिय, बुद्धि आदि में भी है। तो कहना होगा कि इन्द्रियों का ज्ञान पूरा ज्ञान नहीं है, अल्प-ज्ञान है और बुद्धि का ज्ञान भी अनन्त-ज्ञान नहीं है, सीमित है। इन्द्रिय-ज्ञान से बुद्धि-ज्ञान भले ही विशेष हो, परन्तु अविवेक का अन्त होने पर जिस ज्ञान से अभिन्नता होती है, वह तो अनन्त और नित्य-ज्ञान है, सीमित तथा परिवर्तनशील नहीं। अथवा यों कहो कि इन्द्रिय, मन, बुद्धि का ज्ञान उस अनन्त ज्ञान से ही प्रकाशित है, स्वतन्त्र नहीं है; परन्तु नित्य-ज्ञान स्वयंप्रकाश है, परप्रकाश्य नहीं।

इन्द्रियों का ज्ञान विषयों में आसक्ति और बुद्धि का ज्ञान विषयों से अनासक्ति कराने में हेतु है अथवा यों कहो कि बुद्धि के ज्ञान से निर्विकल्प स्थिति प्राप्त हो सकती है। इन्द्रियों के ज्ञान से भोगों में आसक्ति ही उत्पन्न होती है और कुछ नहीं। परन्तु नित्य-ज्ञान से तो नित्य-योग और अमरत्व की प्राप्ति होती है। हाँ, इन्द्रियों के ज्ञान का उपयोग स्वार्थ-भाव को त्याग

कर विश्व की सेवा करने में है और बुद्धि के ज्ञान का उपयोग विषयों से विरक्त होने में है।

इस दृष्टि से इन्द्रिय तथा बुद्धि के ज्ञान भी अपने-अपने स्थान पर आदरणीय हैं। परन्तु कब तक? जब तक इन्द्रिय तथा बुद्धि के ज्ञान का दुरुपयोग नहीं होता। इन्द्रिय-ज्ञान का दुरुपयोग है 'विषय-लोलुपता' में और बुद्धि के ज्ञान का दुरुपयोग है 'विवाद में', जिसका जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

'मैं' और विश्व एक है, यह मान्यता भी साधनरूप मान्यता हो सकती है, साध्यरूप नहीं; अर्थात् निर्णयात्मक नहीं। इस साधनरूप मान्यता से हमें सीमित प्यार का अन्त करना है एवं देह के मोह से और उसकी तद्रूपता से रहित होना है। विश्व से एकता स्वीकार करते ही सामूहिक सुख-दुःख अपना सुख-दुःख हो जाता है, जो हृदय में करुणा और प्रसन्नता प्रदान करने में समर्थ है। करुणा भोग-प्रवृत्ति को और प्रसन्नता भोग-वासनाओं को खा लेती है; ऐसा होते ही समस्त कामनाओं का अन्त हो जाएगा। कामनाओं का अन्त होते ही निर्दोषता आ जाएगी और गुणों का अभिमान गल जाएगा, जिसके गलते ही परिच्छिन्नता तथा संकीर्णता सदा के लिए मिट जाएगी। उसके मिटते ही अनन्त से अभिन्नता हो जाएगी। फिर सीमित प्यार-जैसी कोई वस्तु न रहेगी अर्थात् सभी आसक्तियाँ मिटकर उस अनन्त की प्रीति बन जाएँगी।

प्रीति तथा आसक्ति में बड़ा अन्तर है। आसक्ति में जड़ता और प्रीति में चिन्मयता होती है। आसक्ति मिट सकती है, पर प्रीति नित्य होती है। आसक्ति का जन्म किसी अविवेकयुक्त प्रवृत्ति से तथा अभ्यास से होता है; परन्तु प्रीति अभ्यास-जन्य नहीं है, स्वभाव है, श्रमरहित है, जीवन है; यह अविवेकसिद्ध नहीं है, अपितु विवेकसिद्ध है। आसक्ति की पूर्ति तथा निवृत्ति होती है, परन्तु प्रीति की न पूर्ति होती है न निवृत्ति। आसक्ति घटती, बढ़ती तथा मिटती है; किन्तु प्रीति की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है, यह घटती या मिटती

नहीं है। आसक्ति वस्तु, व्यक्ति, अवस्था आदि में सीमित रहती है; परन्तु प्रीति विभु होती है। आसक्ति बन्धन उत्पन्न करती है और मृत्यु की ओर ले जाती है; परन्तु प्रीति स्वाधीन बनाती है और अमरत्व प्रदान करती है। आसक्ति एक में अनेकता का दर्शन कराती है और प्रीति अनेकता को एकता में विलीन करती है; क्योंकि प्रीति की दृष्टि में प्रियतम से भिन्न कुछ नहीं रहता।

इस दृष्टि से 'मैं' का अर्थ विश्व के साथ एकता अथवा अनन्त से अभिन्नता अथवा अनन्त की प्रीति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अथवा यों कहो कि 'मैं' का अर्थ कुछ नहीं या सब कुछ है या केवल प्रीति ही है।

जीवन-दर्शन

भाग-1

ॐ

सन्त हृदय की करुण पुकार

हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे समर्थ हे करुणासागर विनती यह स्वीकार करो ,
हे समर्थ हे करुणासागर विनती यह स्वीकार करो ,
भूल दिखाकर उसे मिटाकर अपना प्रेम प्रदान करो ।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर अपना प्रेम प्रदान करो ।
पीर हरो हरि पीर हरो हरि पीर हरो प्रभु पीर हरो ।
पीर हरो हरि पीर हरो हरि पीर हरो प्रभु पीर हरो ।